1 राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल के ऐतिहासिक स्रोत

(Historical Sources for the Period of Study of the History of Rajasthan)

ऐतिहासिक स्रोतों का किसी देश या काल के सत्य एवं प्रामाणिक इतिहास लेखन में सर्वाधिक महत्त्व रहता है किन्तु इन स्रोतों को उपलब्ध करने तथा यत्र तत्र बिखरे हुए स्रोतों को संकलित कर उनके आधार पर ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। भारत के प्राचीन इतिहास के ऐतिहासिक स्रोतों के उपलब्ध न होने का कारण प्रायः इतिहासकारों ने भारतीयों में इतिहास चेतना का अभाव माना है। डा. वी. एस. भार्गव का मत है कि—"प्राचीन काल के इतिहास की जानकारी हमें शिलालेखों, सिक्कों, पुरातत्त्व सामग्री, प्राचीन भवनों व मन्दिरों के अवशेष, प्राचीन उजड़े वीरान गाँवों, नदियों और उनकी घाटी में पलने वाली सभ्यता के रूप में प्राप्त होती है।

हिन्दू स्वभाव से ही इतिहास प्रेमी नहीं रहे थे अतः उन्होंने कभी भी अपना इतिहास लिखने का प्रयत्न नहीं किया। हमें उनके बारे में जानकारी धार्मिक साहित्य, वेद, पुराण, जातक कथाओं, बुद्ध व जैन साहित्य आदि से प्राप्त होती है।"[1] किन्तु भारतीयों में ऐतिहासिक चेतना थी। वे काल गणना से भी परिचित थे। विक्रम संवत्, शक संवत और गुप्त संवत इसके प्रमाण हैं। फिर भी भारतीयों ने अपनी बहुमुखी सफलताओं का विवरण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं लिखा। उनकी रुचि धर्म और दर्शन की ओर ही अधिक रही। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस और रोम के लिवी के समान इतिहासकार प्राचीन भारत में नहीं हुए। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इन कठिनाइयों में उपलब्ध स्रोतों की धार्मिक घटनाओं से तथ्यों की खोज करना तथा उनका काल क्रम निश्चित करना प्रमुख है।

1 डॉ. वी. एस. भार्गव : राजस्थान का इतिहास, पृ. 1

राजस्थान के इतिहास लेखन में स्रोत सम्बन्धी कठिनाइयाँ और भी अधिक अनुभव की जाती हैं। डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा के अनुसार— 'बिना आधार सामग्री के क्रमबद्ध सच्चा पूरा तथा निष्पक्ष इतिहास लिखना सम्भव नहीं है क्योंकि प्रारम्भ से ही शक्ति एवं शौर्य के प्रतीक राजस्थानी राज्य बराबर युद्धों में व्यस्त रहे थे जिससे काफी ऐतिहासिक सामग्री प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नष्ट होती गई। इस भाँति राजस्थान इतिहास प्रसिद्ध होते हुए भी इतिहासविहीन है। निःसन्देह राजस्थान के अधिकांश स्थानों में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण सामग्री अवस्थित तो है किन्तु उसे प्रकाश में लाने की आवश्यकता है। तत्पश्चात् यत्र तत्र बिखरे ऐतिहासिक साधन सामग्रियों को एकत्र कर इतिहास लिखा जा सकता है।[1] राष्ट्रीय जागृति के बाद देश में इतिहास के प्रति दृष्टिकोण बदला। अनेक विद्वानों ने कठिन परिश्रम से बिखरी हुई ऐतिहासिक सामग्री को एकत्रित कर प्राचीन भारतीय सभ्यता का इतिहास लिखा। ये ऐतिहासिक तथ्य उन्होंने विभिन्न साधनों से प्राप्त किये। राजस्थान के प्राचीन इतिहास के लेखन हेतु भी ऐसे ही प्रयास अनेक विद्वानों ने किये।

मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोत व उनका वर्गीकरण

राजस्थान के प्राचीन इतिहास की अपेक्षा उसके मध्यकालीन एवं आधुनिक कालीन इतिहास के लेखन हेतु प्रचुर ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध होते हैं। डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— 'जहाँ प्राचीन राजस्थान के निर्माण के साधन अत्यन्त न्यून हैं वहाँ पूर्व मध्यकालीन राजस्थान की जानकारी की सामग्री प्रचुर मात्रा में है। केवल इसके सम्बन्ध में कठिनता यही है कि यह सामग्री चारों ओर बिखरी पड़ी है जिससे उसको संग्रहीत कर घटनाओं का तिथिपरक उचित अंकन करना साधारणतः साध्य नहीं है। परन्तु प्रसन्नता का विषय है कि कर्नल टाड कविराजा श्यामलदास, महामहोपाध्याय डा. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि मेधावियों ने अपने ढंग से इतिहास की सामग्री का ऐतिहासिक साहित्य के निर्माण और विकास में काफी प्रयोग किया है। फिर भी राजस्थान के इतिहास के अनुशीलन में वैज्ञानिक रूप से साधनों के संग्रह की आवश्यकता है जिनको मुख्य रूप में दो भागों में बाँटा जा सकता है—पुरातत्त्व सम्बन्धी और इतिहासपरक साहित्य सम्बन्धी।'[2] मध्यकालीन राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोतों का उल्लेख करते हुए गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है— मुसलमानों आदि के हाथ से नष्ट होने पर भी जो कुछ सामग्री बच रही और जो अब तक उपलब्ध हो चुकी है वह भी इतनी प्रचुर है कि उसकी सहायता से एक सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखा जा सकता है। यह सामग्री चार भागों में विभक्त की जा सकती है—

1 डॉ. के. एस. गुप्ता व डॉ. जे. के. ओझा : राजस्थान का इतिहास : एक सर्वेक्षण, पृ. 288
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, पृ. 9

"(1) हमारे यहां की प्राचीन पुस्तकें।
(2) विदेशियों के यात्रा वर्णन और इस देश के वर्णन सम्बन्धी ग्रन्थ।
(3) प्राचीन शिलालेख तथा दानपत्र।
(4) प्राचीन सिक्के, मुद्रा या शिल्प।"[1]

सुखवीरसिंह गहलोत ऐतिहासिक स्रोतों को केवल दो वर्गों में विभक्त करते हैं— राजस्थान का इतिहास जानने के मुख्य साधन है—पुरातत्व की सामग्री व साहित्यिक सामग्री।'[2] डा वी एम भार्गव ने राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोतों को निम्नांकित प्रकारों में विभाजित किया है—(1) शिलालेख (2) सिक्के (3) स्मारक (4) ऐतिहासिक महाकाव्य, (5) रासा, (6) हिन्दी और राजस्थानी साहित्य, (7) जन पट्टावली, तथा (8) मुस्लिम तवारीखें।[3] वी एम दिवाकर के अनुसार— "इन सब विद्वानों के भिन्न भिन्न विचारों का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राजस्थान का इतिहास हम निम्नांकित साधनों द्वारा जान सकते हैं—

(1) 'शिलालेख और सिक्के
(2) पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री और
(3) साहित्यिक साधन।"[4]

मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास के ऐतिहासिक स्रोतों के उपरोक्त वर्गीकरण विभिन्न विद्वानों के दृष्टिकोण एवं राजस्थान में स्रोतों की उपलब्धि के आधार पर किये गये हैं। ये सभी स्रोत प्रकारान्तर से केवल दो वर्गों के अन्तर्गत समाहित किये जा सकते हैं—(1) पुरातात्विक स्रोत, एवं (2) इतिहासपरक साहित्यिक स्रोत। शिलालेख, सिक्के, दानपत्र भवन खुदाई से प्राप्त अवशेष पुरातात्विक स्रोतों के अन्तर्गत ही माने जाने चाहिए तथा शेष ग्रन्थों, महाकाव्यों, फरमानों रासो ख्यातों आदि को इतिहासपरक साहित्यिक स्रोतों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जाना चाहिए।

उपरोक्त वर्गीकरण राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास के लेखन हेतु विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः इस अध्याय में निर्धारित अध्ययन-काल (Period of Study)—1176 से 1900 ई जिसके अन्तर्गत 1200 से 1761 ई का अध्ययन काल भी समाहित है—से सम्बद्ध राजस्थान के ऐतिहासिक स्रोतों का ही विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इन स्रोतों को हम मुख्यतः निम्नांकित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

1 प गौरीशंकर हीराचन्द ओझा राजपूताने का इतिहास भाग-1, पृ 6
2 सुखवीरसिंह गहलोत राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास, पृ 13
3 डॉ वी एम भार्गव मध्यकालीन राजस्थान का इतिहास पृ 13
4 वी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, पृ 10

(1) पुरातात्विक स्रोत (Archaeological Sources)—
 (i) पुरालेखीय स्रोत (Epigraphic Sources),
  (क) शिलालेख (Rock Edicts or Inscriptions)
  (ख) मुद्रायें अथवा सिक्के (Coins)
  (ग) ताम्र पत्र (Copper Plates)
 (ii) दुर्ग (Forts)
 (iii) राजप्रासाद या महल (Palaces),
 (iv) मंदिर व मूर्तियाँ (Temples and Sculpture)
 (v) स्मारक (Memorials)
 (vi) उत्खनन से प्राप्त अवशेष (Remains found by Excavations)।

(2) इतिहासपरक साहित्यिक स्रोत (Historical Literary Sources)
 (i) संस्कृत साहित्य (Sanskrit Literature)
 (ii) राजस्थानी साहित्य (Rajasthani Literature)
  रासो काव्य एवं ख्यात साहित्य (Raso & Khyat Literature)
 (iii) उर्दू व फारसी साहित्य (Urdu & Persian Literature)
 (iv) जैन साहित्यिक ग्रंथ (Jain Literature)
 (v) आधुनिक ऐतिहासिक ग्रंथ (Modern Historical Literature)।

उपरोक्त ऐतिहासिक स्रोतों का मध्यकालीन राजस्थान के संदर्भ में विवेचन निम्नांकित है—

(1) पुरातात्विक स्रोत
(Archaeological Sources)

पुरातात्विक स्रोतों का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री सबसे अधिक विश्वस्त है। मूक होने हुए इनमें ऐसे सच्चे ऐतिहासिक तत्त्व निहित हैं जो प्रामाणिक हैं।[1] पुरातात्विक स्रोतों के अन्तर्गत पुरालेखीय स्रोत—शिलालेख, मुद्रायें, ताम्र पत्र, दुर्ग, राजप्रासाद, मन्दिर, मूर्तियाँ, स्मारक, उत्खनन से प्राप्त अवशेष आदि—माने जाते हैं जो *तत्कालीन ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त करने के प्राथमिक व प्रामाणिक साधन हैं।* मध्यकालीन एवं आधुनिक कालीन राजस्थान के इतिहास से सम्बन्धित अन्य स्रोत भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं किन्तु प्राचीन राजस्थान के इतिहास को जानने के पुरातात्विक स्रोत सर्वोत्तम एवं एकमात्र साधन होते हैं। डा. गुप्ता व डा. आभा का कथन है कि— प्राचीन राजस्थान का इतिहास लिखने में पुरातत्व सामग्री का

1 पर्वोद्धृत, पृ 9

बड़ा महत्व है। उत्खनन से प्राप्त अवशेषों के आधार पर तत्कालीन इतिहास जानने में कोई कठिनता नहीं रह जाती है।'[1] राजस्थान में आहड़, गिलूंड, बागोर, नोह, कालीबंगा, पीलीबंगा आदि स्थानों पर हुए उत्खननों (खुदाई) से प्राप्त अवशेषों से प्राचीन सिन्धु घाटी सभ्यता तथा प्राचीन काल के विलुप्त तथ्य पुनः उजागर हुए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पुरातात्विक स्रोतों (दुर्ग, मन्दिर, मूर्तियाँ, महल, स्मारकों, सिक्कों आदि) से मध्यकालीन व आधुनिक कालीन राजस्थान के भी अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकट होते हैं।

पुरातात्विक स्रोतों का मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास के लिए विशेष महत्व है जिसका विवरण निम्नांकित है।

(1) पुरालेखीय स्रोत अथवा अभिलेखीय स्रोत
(Epigraphic Sources or Archival Sources)

डॉ. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— 'अभिलेख सम्बन्धी प्रमाण भी पुरातत्व के अन्तर्गत हैं जो पाषाण की पट्टियों, स्तम्भों, शिलाओं, ताम्र पत्रों, दीवारों, मूर्तियों एवं प्रतिमाओं पर खुदे हुए मिलते हैं। इनमें भाषा संस्कृत और राजस्थानी प्रयुक्त हुई है। इनमें से कई तो साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व के हैं। ये गद्य और पद्य में हैं। अभिलेख अधिकतर महाजनी लिपि या तत्कालीन लिपि में खोदे गये हैं। इन अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये दान या विजय के स्मारक हैं, अथवा प्रशस्ति या मृत्यु घटना के द्योतक हैं। तिथियाँ स्थापित करने और ऐतिहासिक घटनाओं तथा साहित्यिक स्थिति को समझने में इनकी सहायता असामान्य है।'[2] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार— 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के लिए सबसे अधिक सहायक और सच्चा इतिहास बतलाने वाले शिलालेख और दान पत्र हैं।'[3] राजस्थान में प्राप्त अभिलेखों का महत्व प्रदर्शित करते हुए डॉ. श्याम प्रसाद व्यास का कथन है कि— 'राजस्थान का अभिलेखीय सामग्री का उपयोग अभी तक प्रमुखतया राजनीतिक इतिहास लेखन में हुआ है। लेकिन सांस्कृतिक दृष्टि से भी अभिलेखीय सामग्री का बड़ा महत्व है।

अन्य प्रदेशों के समान विवेच्ययुगीन राजस्थान में भी दो प्रकार के अभिलेख बहुसंख्यक हैं—एक प्रतिष्ठा अभिलेख और दूसरे दानपत्र। प्रतिष्ठा अभिलेख मन्दिर, मूर्ति, विहार, कूप, वापी, नहर, आश्रम आदि के निर्माण अथवा पुनः संस्कार के समय लिखवाये जाते थे। इनमें प्रायः उस समय शासन कर रहे नरेश की प्रशस्ति भी रहती थी। दानपत्र या दान शासन किसी ब्राह्मण, जैन या बौद्ध भिक्षु, विहार, गच्छ, मन्दिर, पदाधिकारी या किसी अन्य संस्था अथवा व्यक्ति को भूमि दान के अवसर पर लिखवाये जाते थे।

1 पूर्वोद्धृत पृ 288
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 10
3 पूर्वोद्धृत, पृ. 12

किसी व्यक्ति या घटना की स्मृति में कभी कभी स्मारक अभिलेख भी उत्कीर्ण करवाये जाते थे। वस्तुत: इन अभिलेखों में दिवंगत व्यक्ति के साथ सती होने वाली स्त्रियों का उल्लेख होता था।[1]

इन पुरालेखीय स्रोतों का महत्त्व उनसे प्राप्त निम्नांकित ऐतिहासिक तथ्यों के कारण है—

(1) सामाजिक दशा—इन अभिलेखों में सम्बन्धित प्रदेश में निवास करने वाली विभिन्न जातियों, सती प्रथा, बहु विवाह प्रथा, तत्कालीन शासकों व अभिलेखों पर अंकित प्रतिमाओं से प्रचलित वेश भूषा व आभूषणों का ज्ञान होता है।

(2) आर्थिक दशा—इन अभिलेखों से ग्राम व नगरों के जन जीवन, नगर नियोजन, प्रचलित उद्योग, वाणिज्य व्यापार, बाजारों के निर्माण, तस्करों से उनकी सुरक्षा, कृषकों व व्यापारियों से वसूल किये जाने वाले राजकीय करों, क्रय विक्रय की वस्तुओं, शिल्पों, नाप तोल के मानकों, मुद्राओं, व्यापारियों व श्रमिकों की श्रेणियों आदि की सूचना उपलब्ध होती है।

(3) राजनीतिक दशा—इन अभिलेखों से राजा की स्थिति, उनके अधिकार, कर्त्तव्य, स्वच्छाचारिता, धार्मिक नीति, राज कर्मचारियों, राज्यों के उद्भव, विकास व संगठन, सामन्ती व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था, जन कल्याण के निर्माण कार्यों (कुए, बावडी, तालाब, राजमार्गों आदि), तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

(4) साहित्यिक दशा—इन अभिलेखों द्वारा तत्कालीन साहित्यिक उपलब्धियों, शासकों की साहित्यिक व शैक्षणिक अभिरुचियों व कृतियों में आश्रय प्राप्त साहित्यकारों आदि का विवरण मिलता है।

(5) तत्कालीन वास्तुकला की जानकारी–यह जानकारी भी कुछ अभिलेखों से प्राप्त होती है। सम्बन्धित स्मारकों, मन्दिरों, भवनों आदि की शिल्पकला व उनके शिल्पकारों का ज्ञान इन अभिलेखों से मिलता है।

(6) सांस्कृतिक दशा—अभिलेखों द्वारा सम सामयिक सांस्कृतिक जीवन का प्रामाणिक विवरण भी प्राप्त होता है।

अध्ययन-काल के राजस्थान के इतिहास से सम्बन्धित अभिलेख

राजस्थान के इतिहास के आलोच्य काल से सम्बन्धित पुरालेखीय सामग्री निम्नांकित अभिलेखों से प्राप्त होती है—

(क) शिलालेख

(Rock Edicts)

वी. एस. भिवाकर के अनुसार— शिलालेखों से वंशावली के अतिरिक्त राजनीतिक दशा, सामाजिक व आर्थिक अवस्था, धर्म और नैतिकता का पता भी चलता है। इनमें राजाओं की विजय, यश और वीर पुरुष की गाथायें भी होती हैं।

1 डॉ. श्यामप्रसाद व्यास : राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 5-6

कुछ एक पुस्तकें भी शिलाओं पर खुदवा दी गई थीं। राजा भोज द्वारा रचित 'कूर्मशतक' नामक दो प्राकृत भाषा काव्य एक पाठशाला में पत्थरों पर खुदे मिले हैं। इसी प्रकार अजमेर के चौहान राजा विग्रहराज (बीसलदेव चतुर्थ) का लिखा 'हरिकेलि नाटक' भी शिलाओं पर खुदा मिला है।"[1] अजमेर स्थित ढाई दिन के झोंपड़े (चौहानकालीन संस्कृत पाठशाला) से प्राप्त शिलाओं पर हरिकेलि नाटक के अतिरिक्त राजकवि सोमेश्वर रचित ललित विग्रह नाटक भी उत्कीर्ण है। इस प्रकार शिलालेखों का राजस्थान के इतिहास में पर्याप्त महत्त्व है। अब तक 162 शिलालेख राजस्थान में प्राप्त हो चुके हैं जिनका विवरण निम्नांकित ग्रन्थों में संकलित है—

(i) Annual Reports of Rajputana Ajmer
(ii) Archaeological Survey Reports of India
(iii) Indian Antiquary
(iv) Epigraphia Indica
(v) Inscriptions of North India by Dr D R Bhandarkar
(vi) Jain Inscriptions by P C Nahar
(vii) प्राचीन जैन लेख संग्रह—मुनि जिनविजय।
(viii) Corpus Inscriptions
(ix) भावनगर अभिलेख
(x) राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन
—डॉ. श्याम प्रसाद व्यास।

उपरोक्त ग्रन्थों के आधार पर राजस्थान के इतिहास के अध्ययन स्रोत में सम्बद्ध कुछ प्रमुख शिलालेखों का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

(1) बिजोलिया स्तम्भ लेख—यह शिलालेख 1169 ई. का है जो बिजोलिया के पार्श्वनाथ मंदिर की उत्तरी दीवार के पास एक चट्टान पर उत्कीर्ण है। शर्मा और व्यास के अनुसार—"इसमें चौहान वंश के शासकों की उपलब्धियों का वर्णन है। इस लेख में चौहानों को वत्सगोत्र के ब्राह्मण बताया गया है।"[2] इस लेख के द्वारा चौहान शासकों के ग्रामदान, हेमपर्वत दान व स्वर्णदान का पता चलता है। इससे हमें कुटिला नदी के समीप के शैव और जैन तीर्थों की सूचना भी मिलती है। प्रशस्तिकार ने उस समय की प्रजाओं की वृद्धि की मात्रा भी बतलाई है। इस लेख में प्रयुक्त सामन्त भुक्ति आदि शब्द के संकेत से सामाजिक व्यवस्था पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस समय के नैतिक जीवन के विषय में भी इस लेख से जानकारी प्राप्त होती है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—

1 बी एम [illegible], राजस्थान का इतिहास, पृ. 11
2 शर्मा और व्यास, राजस्थान का इतिहास, पृ. 3

वास्तव में बारहवीं सदी के जन जीवन, धार्मिक व्यवस्था को जानने के लिए यह लेख बड़े महत्त्व का है।[1]

(2) लूणवसही की प्रशस्ति (आबू–देलवाड़ा, 1230 ई.)—इसमें आबू के परमार शासकों तथा वस्तुपाल व तेजपाल के वंश का वर्णन है। इसमें उल्लेख है कि तेजपाल ने आबू पर देलवाड़ा गाँव में लूणवसही नामक नेमिनाथ का मन्दिर अपनी पत्नी अनुपमा देवी के श्रेय के लिए बनवाया। इसमें कई गोष्ठिकाओं (गोठों) का वर्णन है जो वर्ष के विभिन्न अवसरों पर होने वाले मंदिर के उत्सवों का प्रबन्ध करती थी। इन गोष्ठिकाओं के सदस्यों की नामावलियाँ उस समय के कई श्रेष्ठि परिवारों का परिचय देती है, जो सामाजिक इतिहास के लिए उपयोगी हैं।

(3) नेमिनाथ (आबू) के मन्दिर की प्रशस्ति (1230 ई.)—यह तेजपाल के द्वारा बनवाए गए मन्दिर में स्थापित है। इस प्रशस्ति में ज्ञात होता है कि वस्तुपाल तथा तेजपाल ने अपने प्रभाव क्षेत्र में अनेक गाँवों में बावड़ियाँ, कुँए, सरोवर (तालाब) मन्दिर, धर्मशालाएँ आदि का निर्माण या जीर्णोद्धार करवाया था। डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— यह प्रशस्ति उस समय के जनसमुदाय की विद्या निष्ठा दान परायणता तथा धार्मिक भावना की अच्छी परिचायक है।[2] इस प्रशस्ति की रचना सोमेश्वर ने की।

(4) डूडरा जोगियान (चूरू) का सती स्मारक लेख (1252 ई.)—इस शिलालेख में वर्णित होता है कि राठौड़ नरहरिदास की पत्नी पाल्हणदे सिंहला यहाँ सती हुई थी। इससे यह भी पता चलता है कि राठौड़ों का विवाह सम्बन्ध भाटियों से होने लगा था।

(5) चीरवा का शिलालेख (1273 ई.)—यह शिलालेख उदयपुर से 8 मील उत्तर में स्थित गाँव चीरवा के एक मन्दिर के बाहरी दरवाजे पर लगा हुआ है। डा. पी. एन. भार्गव के अनुसार— शिलालेख 1273 ई. का है। संस्कृत भाषा में निबद्ध 51 श्लोकों का शिलालेख मेवाड़ के गुहिलवंशी राणाओं के समरसिंह के काल तक की जानकारी प्रदान करता है। उस काल की प्रशासनिक व्यवस्था में तलारक्षों का कार्य तथा धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं (जैसे सती प्रथा के प्रचलन) के बारे में जानकारी देता है। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— इस लेख का 13वीं सदी की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति के अध्ययन में बड़ा उपयोग है।[3]

(6) रसिया की छतरी का लेख (चित्तौड़—1274 ई.)—इस लेख में प्रशस्तिकार वेदशर्मा यहाँ की स्त्रियों की सुन्दरता पर विशेष ध्यान आकर्षित करता है। लेखक रानियों के शृंगार उनके चन्दन के उबटन के वर्णन के साथ हमें वनवासियों के जीवन से परिचित कराता है। इससे दास प्रथा एवं अस्पृश्यता की भी

1 डा. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान के इतिहास के स्रोत
2 पर्वोद्धृत : पृ. 2–3
3 डा. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान के इतिहास के स्रोत

जानकारी मिलती है। डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—' इसमें युद्ध के समय के नैतिक आचरण का भी हमें बोध होता है। वैदिक यज्ञ तथा विद्वानों की उपाधियों के प्रचलन की जानकारी इस लेख में होती है। मेवाड़ की राजनीतिक सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति के अध्ययन के लिए इस शिलालेख का महत्त्वपूर्ण उपयोग है।"[1]

(7) चित्तौड़ का अभिलेख (1438 ई)—महाराणा मोकल की आज्ञा से बन मंदिर में यह शिलालेख लगाया गया है। इसका लेखक सवेग यति था। धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति के विषय में इस लेख से महत्त्वपूर्ण जानकारियां मिलती हैं। डॉ गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि— इसमें दिए गए पत्नियों के नाम से बहु विवाह की परम्परा समृद्ध परिवार में थी इसका अनुमान होता है। उस समय के व्यापारियों का राजकीय स्तर पर भी अच्छा प्रवेश था, जो इस प्रशस्ति में स्पष्ट है। इस समय के दुष्काल का भी हम पता चलता है जबकि एक समृद्ध नागरिक दुष्काल पीड़ितों की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता था।'

(8) कीर्ति स्तम्भ अभिलेख—यह प्रशस्ति चित्तौड़ के कीर्ति स्तम्भ की कई शिलाओं का सामूहिक नाम है। इसमें शिव तथा गणेश की स्तुति की गई है। इसमें वर्णन है कि महाराणा ने एकलिंगजी के मंदिर के पूर्व की ओर कुम्भ मण्डप का निर्माण करवाया था। चित्तौड़ तथा चित्तौड़ के दुर्ग में बनाए गए मंदिरों मार्गों जलाशयों द्वारों जलाशयों का वर्णन उपयोगी है। 15वीं सदी के सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के लिए यह प्रशस्ति विशेष महत्त्व रखती है।

(9) कुम्भलगढ़ का शिलालेख (1460 ई)—इस लेख में जनजीवन तीर्थ स्थान जन समुदाय का वर्णन 15वीं सदी की सामाजिक स्थिति के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इसमें दी गई सामाजिक संस्थाओं के उल्लेख जैसे—दासप्रथा आश्रम व्यवस्था वैदिक यज्ञ तपस्या धर्मशाला तथा पाठशाला व्यवस्था का वर्णन उपयोगी है। कुम्भलगढ़ का निर्माण तथा वहां अनेक मंदिर बाग और बावड़ियां कुम्भा के द्वारा बनवाए जाने का उल्लेख है। इस प्रशस्ति का रचनाकार डॉ ओझा के अनुसार महेश था किन्तु डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार कान्ह था।

(10) देलवाड़ा शिलालेख (1334 ई)—यह शिलालेख चौदहवीं शताब्दी की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति के तथ्यों को प्रकट करता है। इस लेख में 18 पंक्तियों में से 8 पंक्तियाँ संस्कृत भाषा तथा शेष मेवाड़ी भाषा में उत्कीर्ण है। इससे विदित होता है कि जनसाधारण में तत्कालीन भाषा मेवाड़ी प्रचलित थी।

(11) रणकपुर प्रशस्ति (1439 ई)—डा वी एस भार्गव के अनुसार—इससे मालूम पड़ता है कि महाराणा कुम्भा ने बूंदी, गागरोन, सारंगपुर, नागौर, चाटसू अजमेर मंडोर माण्डलगढ़ की विजय किया था। उस समय नाणक (नाणेर) नामक मुद्रा प्रचलित थी।'[2]

1-2 पूर्वोद्धृत p 1-3

(12) रायसिंह प्रशस्ति (1593 ई.)—डा. भार्गव के ही शब्दों में—"इसे बीकानेर के किले की समाप्ति के पश्चात् महाराजा रायसिंह ने खुदवाया था। इस प्रशस्ति की 30वीं पंक्ति में रायसिंह की काबुलियों, सिंधियों और कच्छियों पर विजय का उल्लेख है।[1] डा. शर्मा व व्यास के अनुसार—'रायसिंह की धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रशस्ति में उल्लेख है।[2]

(13) सूरजपुर (डूंगरपुर) के माधवराय की प्रशस्ति (1591 ई.)—इस प्रशस्ति को संस्कृत पद्य तथा वागड़ी गद्य में लिखा गया है। इसमें बागड़ देश की संस्कृति का वर्णन है जिसमें ग्रामों की संख्या 3500 बतलाई गई है तथा डूंगरपुर के नगर, बगीचों, बावड़ियों, सरोवरों, कुओं, मंदिरों तथा शिल्प व्यवस्था का भी वर्णन किया गया है। इस प्रशस्ति को गादा के पुत्र हरिदास ने लिखा था। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"इसमें उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा *आर्थिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।*[3]

(14) सादड़ी का लेख (1597 ई.)—यह लेख सादड़ी स्थित एक बावड़ी के दाहिने भाग की दीवार पर लगा हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत तथा लिपि देवनागरी है। इसमें उल्लिखित है कि ओसवाल जाति के कावड़िया गोत्र के भारमल की पत्नी कपूरा ने अपने पुत्र ताराचंद की पुण्य स्मृति में इस ताराबाव नामक तीर्थ का निर्माण किया। ताराचंद के साथ उसकी 11 पत्नियाँ सती हुई। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—'प्रस्तुत लेख तथा मूर्तियों से उस समय की प्रचलित सती प्रथा पर प्रभूत प्रकाश पड़ता है।[4]

(15) डूंगरपुर के गोवर्धननाथजी के मंदिर की प्रशस्ति (1623 ई.)—यह प्रशस्ति महारावल पूंजा के समय की है। इसमें डूंगरपुर के शासकों के विद्यानुरागी, कवि, वीर तथा शांतिप्रिय शासक होने, पूंजपुर गाँव बसाने व सरोवर बनवाने, डूंगरपुर में नौलखा नामक बाग लगवाने व गोवर्धन का विशाल मंदिर बनवाने व बसई गाँव मंदिर को भेंट देने का विवरण दिया गया है।

(16) जगन्नाथ प्रशस्ति (1652 ई.)—यह प्रशस्ति उदयपुर के जगन्नाथराय के मंदिर के सभा मण्डप में जाने वाले भाग के दोनों ओर काले पत्थर पर उत्कीर्ण है। इस प्रशस्ति में राणा जगतसिंह के अनेक पुण्य कार्यों का वर्णन है जिसमें कल्पवृक्ष का दान प्रमुख है। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"उक्त दान के संबंध में इसमें वर्णित है कि वह वृक्ष स्फटिक की वेदी पर खड़ा किया गया जिसका मूल नीलमणि, सिर वडूर्यमणि, स्कंध हीरों, शाखायें पीत मरकतमणि, पत्ते मूंगे, *फूल पत्तियाँ के गुच्छे और फल रत्नों के बनाए गए थे। महाराणा विद्या प्रेमी* थे। उन्होंने काशी के ब्राह्मणों के लिए बहुत सा स्वर्ण भेजा। महाराणा जगतसिंह ने लाखों रुपयों की लागत का जगन्नाथराय का जिसे अब जगदीश कहते हैं, भव्य पंचायतन मंदिर बनवाया। इन पुण्य कार्यों के वर्णन से उस समय

1 पूर्वोक्त p 3

2 डॉ. शर्मा व व्यास : राजस्थान का इतिहास पृ. 5

3–4 पूर्वोक्त पृ. 173

की धार्मिक स्थिति तथा मुगलों से मेवाड़ के मधुर सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह प्रशस्ति मेवाड़ के इतिहास के लिए बड़ी उपयोगी है।[1]

(17) त्रिमुखी बावड़ी की प्रशस्ति (1675 ई.)—यह प्रशस्ति देबारी के निकट त्रिमुखी बावड़ी में लगी है। इसमें बापा से लेकर राजसिंह तक की उपलब्धियाँ संक्षेप में दी गई हैं। जगतसिंह के समय में रत्न और स्वर्ण तुलादान, मंदिर निर्माण, श्वेताश्वदान, कल्पतरुदान, सप्तसागरदान आदि का इसमें वर्णन किया गया है। इसमें राजसिंह के समय में सर्वऋतु विलास नाम के बाग के बनाए जाने, चारुमति के विवाह आदि का उल्लेख है। जगतसिंह के द्वारा दिए गए भूमिदान, ग्रामदान, तुलादान आदि की सूचना भी हमें इस प्रशस्ति में मिलती है। इसमें राजपरिवार की बायाओं के विवाह अवसर पर अन्य बायाओं को दान देने का उल्लेख है। इसका प्रशस्तिकार रणछोड़ भट्ट था।

(18) राज प्रशस्ति (Raj Prashasti)—यह प्रशस्ति राजस्थान के शिलालेखों में सबसे अधिक विस्तृत एवं ऐतिहासिक महत्त्व की है। यह राज प्रशस्ति राजसमन्द पर बनी नौ चौकी घाट पर शिलाओं पर उत्कीर्ण है। डा. वी. एस. भार्गव का कथन है कि—'राजसमुद्र कृत्रिम झील के निर्माता मेवाड़ के महाराणा राजसिंह की आज्ञा से रणछोड़ भट्ट ने संस्कृत में एक महाकाव्य रचा जिसे काले पत्थर की 25 बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदवाकर झील के तट पर ताकों में लगवाया गया जहाँ वे आज भी विद्यमान हैं। प्रत्येक शिला 3 फीट लम्बी और 2 फीट चौड़ी है। इन शिलाओं में काव्य के 24 सर्ग 1106 श्लोक खुदे हुए हैं। छठी शिला को पढ़ने से जाहिर होता है कि इस महाकाव्य को पत्थर की शिलाओं पर खुदवाने के आदेश राजसिंह के उत्तराधिकारी जयसिंह के द्वारा दिए गए थे।'[2]

राज प्रशस्ति की रचना का मुख्य उद्देश्य और विषय महाराणा राजसिंह के जीवन एवं उपलब्धियों का उल्लेख करना था लेकिन प्रसंगवश कवि रणछोड़ भट्ट ने मेवाड़ की सभ्यता और संस्कृति वेशभूषा शिल्पकला मुद्रा दान प्रणाली धर्म कर्म युद्धनीति इत्यादि पर प्रकाश डाला है। फलस्वरूप राज प्रशस्ति प्रधानतः ऐतिहासिक महाकाव्य बन गया है। यह वर्णन कवि के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर किया है, अतएव ऐतिहासिक स्रोत के रूप में राज प्रशस्ति का विशेष महत्त्व है।

इससे ज्ञात होता है कि राणा कुम्भा की 1600 पत्नियाँ थी, जगतसिंह ने मेरु मंदिर और मोहन मंदिर नामक प्रासाद बनवाए थे। रूपसिंह की पुत्री चारुमति का विवाह राजसिंह से हुआ था। विक्रम संवत् 1721 के मध्य माघ में सूर्य ग्रहण पड़ा था, उस समय राजसिंह ने हिरण्य कामधेनु नामक महादान किया था। इसमें चन्द्र ग्रहण के अवसर पर (वि. सं. 1729 में) कल्पलता नामक दान का उल्लेख किया गया है। इसमें 46 हजार ब्राह्मणों को दान देने का भी उल्लेख है। इस प्रकार मेवाड़ के इतिहास की जानकारी के लिए राज प्रशस्ति का अत्यन्त

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान के इतिहास के स्रोत, पृ. 177
2 डॉ. वी. एस. भार्गव : राजस्थान का इतिहास, पृ. 6

महत्त्व है। राज प्रशस्ति की रचना संस्कृत भाषा में की गई है किन्तु इसमें अरबी फारसी और लोक भाषा (मेवाड़ी) के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। डा. श्रीराम शर्मा ने इसे सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं की जानकारी के लिए एक अच्छा प्रमाण स्वीकार किया है।

डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि— 'उस समय के विवाह, खेल, शिक्षा, निर्माण कार्य, मुद्रा, सैनिक शिक्षा, पठन-पाठन, समृद्धि, नगर योजना, उपवन, महल, वस्त्र और रत्नों की विशेषता, धर्मदान, व्यवसाय, निर्माण के साधन, भोजन के प्रकार, मिष्ठान्न आदि विविध विषयों पर प्रशस्तिकार प्रकाश डालता है।[1] डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने इस प्रशस्ति के महत्त्व को इन शब्दों में व्यक्त किया है— मेवाड़ की संस्कृति, वेशभूषा, शिल्पकला, मुद्रा, दान प्रणाली, युद्धनीति, धर्म, कर्म इत्यादि अनेकानेक अन्य बातों पर भी इसमें अच्छा प्रकाश पड़ता है।'[2] डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार— 'यह अन्य महाकाव्यों के समान कवि की कल्पना नहीं है। इसमें सत्यता के साथ ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण है जो इतिहास के लिए बड़ा उपयोगी है।[3] डॉ. शर्मा और श्याम के अनुसार— इसमें महाराणा राजसिंह के सार्वजनिक कार्यों, पुण्य कार्यों तथा विषयों का भी वर्णन किया गया है। वस्तुतः मेवाड़ के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में यह प्रशस्ति अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई है।[4]

(19) अरबी फारसी भाषा में उत्कीर्ण शिलालेख—राजस्थान के मध्ययुगीन काल के इतिहास के स्रोतों के रूप में केवल उपरोक्त संस्कृत व राजस्थानी भाषा के शिलालेख ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं अपितु मुस्लिम काल में उपलब्ध कुछ अरबी फारसी के शिलालेख भी उतने ही उपयोगी हैं। डॉ. गुप्ता व ओझा का यह कथन उपयुक्त है कि— मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद भारत में अरबी-फारसी के शिलालेख उत्कीर्ण किए जाने लगे। तब राजस्थान भी अछूता नहीं रहा। प्रायः दरगाहों, मस्जिदों, सरायों, तालाबों, कब्रों आदि स्थानों पर लगे इन शिलालेखों से राजस्थान का इतिहास लिखने में बड़ी सहायता मिलती है। जिन स्थानों पर इन शिलालेखों की बाहुल्यता है उससे लगता है कि वहाँ पर मुस्लिम या मुगल प्रभाव था। राजपूतों व मुस्लिम सुल्तानों या मुगल बादशाहों के सम्बन्धों को समझने में सहयोग मिलता है। साथ ही स्थान या भवन विशेष पर लगे शिलालेखों से यह भी ज्ञात होता है कि ये किसने, कब और क्यों बनवाए? इस भाँति अरबी व फारसी के शिलालेखों से भी तत्कालीन राजस्थान की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थिति को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। ये शिलालेख अधिकतर

1 डॉ. वी. एस. भार्गव : राजस्थान का इतिहास, पृ. 6
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान के इतिहास के स्रोत
3 डॉ. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य
4 डॉ. गौ. ही. ओझा : पूर्वोद्धृत

अजमेर नागौर, जालोर सांभर अलवर मेड़ता टोंक, जयपुर आदि इलाकों में लगे हुए हैं। स्पष्ट है कि मुस्लिम सुल्तानों या मुगल शासकों का इन क्षेत्रों में राजनीतिक प्रभुत्व था। इतना ही नहीं फारसी प्रशस्तियों में मुस्लिम या मुगल शासन की जानकारी भी मिलती है।'[1] इस प्रकार के अभिलेखों का संकलन डा. मांगीलाल व्यास मयंक ने किया है।[2]

उपरोक्त प्रकार के सभी अभिलेखों का विवरण देना तो सम्भव नहीं है किन्तु निम्नांकित कुछ प्रमुख शिलालेखों का महत्त्व इस प्रकार है—

(i) अजमेर की दरगाह शरीफ में शाहजहाँ का अभिलेख (1637 ई.)—इस शिलालेख में उत्कीर्ण है कि शाहजादा खुर्रम ने मेवाड़ के राणा पर विजय प्राप्त करने के बाद इस दरगाह में एक मस्जिद के निर्माण की प्रतिज्ञा की थी तथा उसी प्रतिज्ञा की पूर्ति हेतु इस मस्जिद का निर्माण कराया गया है।

(ii) अजमेर के तारागढ़ पर सैयद हुसैन मशहदी की दरगाह के शिलालेख (1808 व 1813)—इन शिलालेखों में इस ऐतिहासिक तथ्य का पता चलता है कि इस दरगाह का दालान बालाजी इंगलिया व राव गुमानजी सिंधिया ने बनवाया था।

(iii) मेड़ता की जामा मस्जिद का अभिलेख (1807–1808 ई.)—डा. मांगीलाल व्यास मयंक ने इस अभिलेख का उद्धृत करते हुए लिखा है कि—'अभिलेख में कहा गया है कि राजा धारसिंह महाराजा भीमसिंह का उत्तराधिकारी पुत्र के प्रयासों से इस परित्यक्त मस्जिद का जीर्णोद्धार हुआ। यह भी कहा गया है कि मस्जिद की दुकानों के किराये के सम्बन्ध में गड़बड़ी करने वाला पाप का भागी होगा।'[3] इस अभिलेख में तत्कालीन मारवाड़ नरेश की धार्मिक सहिष्णुता की नीति स्पष्ट होती है।

(ख) मुद्राएँ या सिक्के

(Coins)

राजस्थान के अध्ययन काल की अवधि से सम्बन्धित अनेक सिक्के राजस्थान के विभिन्न भागों से उपलब्ध हुए हैं जिनसे तत्कालीन इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आये हैं। मुद्राओं या सिक्कों का राजस्थान के इतिहास में काफी महत्त्व है। राजस्थान के इतिहास के निर्माण में सिक्कों का उपयोग स्वीकार किया गया है। इनसे अनेक शासकों की धार्मिक प्रवृत्तियों दानशीलता आदि की भी जानकारी मिलती है। इन सिक्कों से तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक धार्मिक, आर्थिक स्थिति के बारे में जानकारी मिलती है। इनसे तत्कालीन वेश भूषा, कला आदि का भी समुचित ज्ञान होता है।

1 डॉ. के. एस. गुप्ता व डा. जे. के. ओझा राजस्थान के इतिहास का एक सर्वेक्षण, पृ. 292
2 डॉ. मांगीलाल व्यास मयंक राजस्थान के अभिलेख
3 पूर्वोक्त पृ. 183

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"मध्यकालीन युग के अब तक सोने, चांदी, तांबे और सीसे के हजारों सिक्के मिल चुके हैं। इन पर अंकित लेख, संख्या तथा चिह्न आदि मध्ययुगीन इतिहास के लिए बड़े उपयोगी हैं। इन सिक्कों के वैज्ञानिक अध्ययन से राजाओं की नामावली, वंश परिचय, स्थान विशेष तथा काल का समुचित बोध होता है। विभिन्न राजकुलों की सीमा निर्धारण करने में सिक्कों का बड़ा महत्त्व है। इन सिक्कों से तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि स्थिति का परिज्ञान होता है। इसी प्रकार तत्कालीन कला के अध्ययन में सिक्के बड़े काम के प्रमाणित हुए हैं।[1] डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दों में—"सिक्कों पर अंकित शासकों के नाम, तिथि, उपाधि, राज चिह्न आदि से हम शासकों का नाम लिपि धर्म व काल निर्धारण आदि में बड़ी सहायता मिलती है। सिक्कों के आधार पर हम राज्य की श्री सम्पन्नता एवं समृद्धि के स्तर को निर्धारित कर सकते हैं। सिक्कों के तौल धातु आकार प्रकार से उस काल विशेष की आर्थिक दशा की जानकारी होती है तथा सिक्कों के सुडौलपन व बनावट से कला के स्तर को भी आंका जा सकता है। किसी भी शासक के अधिक सिक्के उसके शासन की स्थिरता का बोध कराते हैं तो कम सिक्के या तो उसके अल्पकाल का या उसके कठिनाइयों से ग्रस्त शासन व्यवस्था का निरूपण कराते हैं। इसी भांति सिक्कों के आधार पर हम शासक विशेष की राज्य सीमाओं का अनुमान भी लगा सकते हैं कि उसका राज्य कहां तक फैला हुआ था।[2]

सिक्कों का उपरोक्त महत्त्व चौहानों के सिक्कों से प्रकट हो सकता है। चौहानों का साम्राज्य अत्यन्त विस्तृत था। चौहान शासकों के अनेक सिक्के मिले हैं जिन पर वृषभ और अश्वारोही अंकित है। अजमेर नगर के संस्थापक चौहान सम्राट अजय देव तथा उसकी रानी सोमल देवी (सोम लेखा) के नाम की मुद्राएं (सिक्के) प्राप्त हुए हैं। अजय देव की मुद्राएं चांदी व तांबे की बनी हैं और उनके अग्रभाग में पद्मासना देवी की आकृति उत्कीर्ण है। मनाल शिलालेख (1168 ई) तथा ढोड स्तम्भ लेख (1171 ई) में इन मुद्राओं का उल्लेख सप्रमाण रूप में इनके प्रचलन को प्रमाणित करता है। सोमल देवी की तांबे की मुद्राओं के अग्रभाग में एक अश्वारोही की आकृति तथा पृष्ठ भाग में रानी का नाम उत्कीर्ण है। उसकी चांदी की मुद्राएं थोड़ी मात्रा में मिली हैं जो 'राजा के सिर अथवा जनभाषा में गधैया का पैसा' प्रकार की मानी जाती हैं। इनसे तत्कालीन समृद्ध आर्थिक स्थिति तथा राजा के साथ रानी का महत्त्व भी प्रकट होता है। जयानक ने 'पृथ्वीराज विजय' में लिखा है कि—'अजय देव ने चांदी (द्रुवण) के रूपयों अर्थात् सिक्कों से पृथ्वी भर दी और कवियों ने उसे अपने सुवर्णों (अच्छे अक्षरों) अर्थात सिक्कों से भर दिया।[3]

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा एतिहासिक निबंध राजस्थान पृ 172
2 पूर्वोद्धृत पृ 290
3 प्रो हेमसिंह बघेला उत्तरी भारत का इतिहास, पृ 191

चौहान साम्राज्य के पराभव काल में पृथ्वीराज तृतीय का 1192 ई. का एक सिक्का चौहानों के ह्रास काल को बतलाता है। बी. एम. दिवाकर ने इस सिक्के का विवरण देते हुए उसके महत्त्व का इस प्रकार उल्लेख किया है—'उदाहरण के लिए हम पृथ्वीराज का एक सिक्का लें जो 19वीं शताब्दी में तारागढ़ (अजमेर) में प्राप्त हुआ। इस सिक्के में एक तरफ मुहम्मद गोरी का चित्र अंकित है और दूसरी तरफ पृथ्वीराज चौहान का। उन मूर्तियों के नीचे दोनों के नाम लिखे हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज तराइन की लड़ाई में मारा नहीं गया था। संस्कृत और फारसी के लेखकों का यह कहना कदाचित सही है कि तराइन के युद्ध के बाद दोनों में थोड़े समय के लिए मित्रता हो गई थी। इसी बात का समर्थन चित्तामणि काव्य भी करता है। साधारणतः लोग यह मानते हैं कि पृथ्वीराज को पकड़ कर मार डाला गया था। इस प्रकार एक सिक्का सारे इतिहास को बदलने की सामर्थ्य रखता है।'[1]

चौहान साम्राज्य के पतन के पश्चात राजस्थान के अध्ययन काल के अन्तर्गत सिक्कों में अवनति का युग आरम्भ हो गया। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—'चौहानों की पराजय भारतीय मुद्राओं के ह्रास का काल था। कई पीढ़ियों से चलने वाली भारतीय मुद्राओं का स्वरूप इस विजय ने परिवर्तित कर दिया। कुछ विजेताओं ने भारतीय लिपि और नामों के साथ अपनी मुद्राओं का प्रचलन रखा, परन्तु शीघ्र ही भारतीय मुद्राओं पर हिजरी सन्, दिल्ली के सुल्तानों के नाम, पैगम्बरों के नाम आदि अंकित किए जाने लगे। तोल, आकार प्रकार, लिपि आदि ने नया स्वरूप ले लिया जो मुस्लिम मुद्रा शैली कहलाई। फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि राजस्थान की अपनी मुद्रा समाप्त हो चली थी। अलाउद्दीन के समय तक चलने वाले द्रम्म, तेजसिंह (1261–1270) तक की तांबे की मुद्रा, कुम्भा के समय के चांदी, सोने और तांबे के सिक्के में तथा 1540 तक चलने वाले फदिया सिक्के राजस्थान में व्यवहार में आते रहे।[2]

वस्तुतः मध्यकालीन व मुगलकालीन राजस्थान की विभिन्न रियासतों में अपने सिक्के काफी समय तक चलते रहे किन्तु उन पर मुस्लिम प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होने लगा। मेवाड़ में सोना, चांदी व तांबे के सिक्के चलते थे। कुम्भा के समय सोने चांदी व तांबे के गोल व चौकोर सिक्के चलते थे। महाराणा अमरसिंह के समय मुगल सम्राट जहांगीर से संधि हो जाने के बाद मेवाड़ में मुगलिया सिक्कों का प्रचलन हो गया। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, कोटा, प्रतापगढ़ आदि राज्यों की अपनी टकसालें थीं जिनमें सिक्के ढाले जाते थे। जयपुर में झाड़शाही व बीकानेर में आलमशाही सिक्के चलते थे। जोधपुर में महाराजा गजसिंह तक गधिया व फदिया सिक्के चलते रहे किन्तु 1781 में महाराजा विजयसिंह ने शाह आलम के

1 बी. एम. दिवाकर : राजस्थान का इतिहास, पृ. 14
2 पूर्वोद्धृत, पृ. 175

नाम के सिक्के प्रचलित किये जो विजयशाही कहलाते थे। प्रतापगढ़ में मांडू व गुजरात के सिक्के चलते थे किन्तु मुगल प्रभाव के बाद में शाह आलमशाही रुपये का सिक्का चलन लगा। इस प्रकार परिस्थितियों के अनुसार सिक्कों के प्रचलन में परिवर्तन आता गया जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

(ग) ताम्र-पत्र
(Copper Plates)

मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास हेतु ताम्र पत्रों का भी विशेष महत्त्व है। डा. गुप्ता व डा. ओझा के अनुसार— राजस्थान का इतिहास जानने के लिए ताम्र पत्रों का भी काफी महत्त्व है। प्राय राजा या ठिकाने के सामंतों द्वारा ताम्र पत्र दिये जाते थे। इनाम इकराम दान पुण्य जागीर आदि अनुदानों को ताम्र पत्रों पर खुदवाकर अनुदान प्राप्तकर्त्ता को दे दिया जाता था जिसे वह अपने पास सम्भाल कर सुरक्षित रखता था। यद्यपि अधिकतर ताम्र पत्र भूमि अनुदान से सम्बन्धित रहे हैं तथापि इनमें तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक आर्थिक व राजनीतिक स्थिति की जानकारी मिलती है जैसे इनमें यह स्पष्ट होता है कि किसने किसको कब किस खुशी में ताम्र पत्र दिया।[1]

दान पत्रों को ताम्र पत्र भी कहा जाता है क्योंकि इन पत्रों में तांबे की चद्दर का प्रयोग किया गया है। प्राचीन काल से ही राजा महाराजा रानियाँ सामंत और समृद्ध लोग दान पुण्य के लिए अनुदान देने के रूप में भूमिदान देते आये हैं। उस युग में यह परम्परा थी कि स्थायी अनुदानों को तांबे की चद्दरों पर उत्कीर्ण कर दिया जाता था। अनुदान विशेष रूप से पर्वों पर यात्रा के अवसर पर धार्मिक कार्यों पर मृत्यु पर अथवा विजय के उपलक्ष्य आदि के अवसर पर दिये जाते थे।

अध्ययन कालीन राजस्थान के इतिहास के कुछ प्रमुख ताम्र पत्रों का उल्लेख करना उनके ऐतिहासिक महत्त्व को प्रकट कर सकेगा। उदाहरणार्थ, प्रतापगढ़ दान पत्र (1622 ई.) में सूर्य ग्रहण के अवसर पर दान देने का साँचोर ताम्र पत्र (1646 ई.) में स्थानीय भाषा का कीटखेड़ी (प्रतापगढ़) ताम्र पत्र (1650 ई.) से हरिसिंह के समय की दिया की उन्नति का सरनाणिया गाँव (बाँसवाड़ा) के दान पत्र से चन्द्र ग्रहण के अवसर पर दिए जाने वाले भूमिदान का पारणपुर (प्रतापगढ़) दान पत्र (1676 ई.) से स्थानीय भाषा एवं कला का कोधाखेड़ी दान पत्र (1713 ई.) से महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय की दानशीलता का बाँसवाड़ा के दो दान पत्रों (1749 व 1750 ई.) से 18वीं सदी में वागडी भाषा के स्वरूप के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

1 पूर्वोद्धृत पृ. 292

(ii) दुर्ग
(Forts)

राजस्थान के मध्ययुगीन इतिहास में राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर निर्मित सुदृढ़ दुर्गों या किलों का ऐतिहासिक सामरिक एवं स्थापत्य कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। राजस्थान में प्रत्येक राज्य में तथा उनके विभिन्न प्रदेशों में कोई दुर्ग गढ़ या गढ़ी स्थित है जो अपने में राजपूतों के शौर्य वीरता एवं बलिदान का इतिहास छिपाये हुए है। राजस्थान मध्यकाल में विदेशी शक्तियों विशेषत मुस्लिम आक्रमणकारियों से युद्धों में ग्रस्त रहा जिनमें इन दुर्गों की विशेष भूमिका रही। कुछ प्रमुख दुर्गों जैसे चित्तौड़ रणथम्भौर, सिवाना, जालोर बूंदी, तारागढ़ बीकानेर कोटा शेरगढ़ जोधपुर जैसलमेर आदि के दुर्गों की सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थिति थी। चित्तौड़ व रणथम्भौर दुर्गों में हुए भीषण युद्धों व राजपूत रमणियों के जौहर की गाथाएं राजस्थान के इतिहास में स्वर्णिम अक्षरों में अंकित हैं।

इन दुर्गों की स्थापत्य कला के सम्बन्ध में अगले अध्यायों में विवेचन किया जायेगा। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दुर्गों का राजस्थान के इतिहास के लिए प्रमुख स्रोत के रूप में उपयोग किया जाना उपयोगी है।

(iii) राजप्रासाद या महल
(Palaces)

दुर्गों की भाँति राजस्थान के इतिहास की स्रोत सामग्री के रूप में विभिन्न स्थानों पर निर्मित राजाओं के महलों का भी अपना विशिष्ट स्थान है। राजप्रासादों के आकार भव्यता, स्थिति, स्थापत्य कला एवं ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से उनका अध्ययन मध्यकालीन इतिहास के लेखन हेतु उपयोगी है। जयपुर, उदयपुर, जोधपुर अलवर बीकानेर कोटा बूंदी आदि के राजमहल दर्शनीय ही नहीं अपितु वे तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति से अवगत कराने के भी सक्षम स्रोत हैं। इन राजप्रासादों की दीवारों पर अंकित चित्र भी अत्यन्त कलात्मक हैं तथा चित्रकला की राजपूत शैली को प्रदर्शित करते हैं।

(iv) मन्दिर व मूर्तियाँ
(Temples and Sculptures)

वैसे तो राजस्थान के *प्रत्येक नगर व ग्राम में मन्दिर व मूर्तियाँ स्थित हैं* किन्तु मध्यकालीन इतिहास से सम्बद्ध कुछ ऐसे मन्दिर व मूर्तियाँ राजस्थान में उपलब्ध हैं जिनमें तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में घटित महान् घटनाओं का परिज्ञान होता है। जैसे नाथद्वारा मन्दिर गोविन्द देव जी का जयपुर स्थित मन्दिर, कोटा का मथुरेश जी मन्दिर, आबू (देलवाड़ा) के जैन मन्दिर, पुष्कर, उदयपुर का जगदीश जी का मन्दिर आदि और उनमें स्थापित मूर्तियों का ऐतिहासिक महत्त्व है। मध्यकालीन राजस्थान में अनेक मन्दिर बने जिनके बाहरी व भीतरी

भागों में स्थापित मूर्तियों को यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो धार्मिक व सामाजिक जीवन के विषय में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिल सकती है। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में परिवर्तित परिस्थितियों का प्रभाव मंदिरों व मूर्तियों पर इस प्रकार परिलक्षित होता है—

"चित्तौड के कीर्ति स्तम्भ में उदयपुर के जगदीश मंदिर में तथा राजनगर की नौ चौकी में सामाजिक भावों और जीवन को व्यक्त करने की अनेक मूर्तियाँ हैं जिनमें हमें 15वीं से 17वीं सदी के समाज की स्पष्ट झाँकी मिलती है। इन मूर्तियों में वस्त्र आभूषण शृंगार आदि उपकरणों के विषय में प्रभूत मात्रा में सामग्री उपलब्ध होती है। ज्योंही हम 16वीं सदी में पहुँचते हैं त्योंही इन मूर्तियों में स्पष्ट हो जाता है कि उच्च वर्गीय समाज पर मुगल प्रभाव बढता जा रहा था और एक सामंजस्य की भावना पैदा हो रही थी। नृत्य के दिखावा में थोडे वस्त्रों का पहनावा मुगल परम्परा के अनुसार है। इसी तरह राज समुद्र की मूर्तियों में वेश भूषा पर मुगल प्रभाव है। इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा गया है कि जिस प्रकार हम लिखित सामग्री से इतिहास के कलेवर का निर्माण करते हैं उसी प्रकार सृजनात्मक मूर्तिकला भी उस कलेवर को समृद्ध बनाने में योग देती है।[1]

(v) & (vi) स्मारक एवं उत्खनन से प्राप्त अवशेष
(Memorials and Remains found by Excavations)

डा वी एस भार्गव के अनुसार— भवनों और भग्नावशेषों के द्वारा हम जीवन स्तर के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। समाज की वस्तु स्थिति धार्मिक भावनाओं एवं आर्थिक स्थिति पर प्रकाश पडता है। इसमें राजनीतिक उथल पुथल को समझने में भी सहायता मिलती है। इतिहास के कलेवर को समृद्ध बनाने में पुरातत्त्व सामग्री प्रचुर मात्रा में योगदान देती है। राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास की सामग्री यद्यपि अभी नष्ट नहीं हुई है फिर भी कुछ धर्मान्ध मुस्लिम शासकों की विध्वंसकारी नीति के कारण कुछ मंदिरों भवनों मूर्तियों स्मारकों आदि को नष्ट भ्रष्ट कर उन्हें मस्जिद के रूप में परिणत कर दिया गया है जिनका वास्तविक ज्ञान उत्खनन द्वारा प्राप्त अवशेषों में होता है।

उदाहरणार्थ अजमेर स्थित चौहान कालीन सरस्वती मंदिर को अल्तमश सुल्तान ने नष्ट भ्रष्ट कर उसे ढाई दिन के झौंपडे के रूप में परिवर्तित किया। इस तथ्य का पता वहाँ उत्खनन से प्राप्त शिलाओं पर अंकित चौहान नरेश विग्रहराज चतुर्थ द्वारा रचित हरिकेलि नाटक व उसके राजकवि सोमदेव कृत ललित विग्रहराज नाटक से लगता है। अयोध्या में स्थित बाबरी मस्जिद राम जन्म भूमि है इस तथ्य का पता भी उस मस्जिद में लगे पाषाणों से लगा है। औरंगजेब ने

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान के इतिहास के स्रोत

2 पूर्वोक्त पृ 7

अनेक मंदिरों व मूर्तियों को तोड़ कर मस्जिद में परिवर्तित किया जिसका पता वहाँ के उत्खनन द्वारा लगा है।

स्मारकों में राजस्थान की मध्ययुगीन इमारतें जिनमें भग्नावशेष दुर्ग राजप्रासाद मंदिर स्तम्भ, समाधियाँ छतरियाँ आदि सम्मिलित हैं। स्मारक भी इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं। इनके द्वारा धार्मिक भावनाओं को, वास्तु शैलियों को तथा जनजीवन के स्तर को आँका जा सकता है। चित्तौड़ कुम्भलगढ़ गागरौन रणथम्भौर, आमेर जालौर आदि के दुर्ग सैनिक साधना सुरक्षा व्यवस्था पर ही प्रकाश नहीं डालते वरन् उस समय के राज परिवार तथा जन साधारण के जीवन को स्पष्ट रूप से बताते हैं।

स्मारकों में चित्तौड़ के दुर्ग में स्थित कीर्ति स्तम्भ महाराणा कुम्भा की कीर्ति पताका को स्थाई रूप से फहराते रहने का एक अनुपम स्मारक है। इसकी वास्तुकला मूर्तियाँ व शिलालेख ऐतिहासिक महत्व के हैं। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— महाराणा कुम्भा का बनवाया हुआ नौ मंजिल का विशाल कीर्ति स्तम्भ राणा ने मालवा के सुलतान महमूदशाह खिलजी को पराजित करने की स्मृति में बनवाया था। यह स्तम्भ अनेक देवी देवताओं और सामाजिक जीवन की परिचायक मूर्तियों का कोष है।"[1] इसी प्रकार चित्तौड़गढ़ में ही जैन विजय स्तम्भ भी 11वीं सदी में जीजा द्वारा निर्मित एक स्मारक है। ऐसे ही अनेक स्मारक स्तम्भों समाधियाँ सती छतरियाँ देवली मंदिरों, बावड़ियों तालाबों, महलों आदि के रूप में राजस्थान में यत्र तत्र पाये जाते हैं जिनसे मध्ययुगीन इतिहास के तथ्य प्रकट होते हैं।

(2) इतिहासपरक साहित्यिक स्रोत
(Historical Literary Sources)

डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— राजस्थान के इतिहास के साधन के अन्तर्गत साहित्यिक कृतियों का एक विशेष महत्व है। वैसे तो इन कृतियों के सृजन का उद्देश्य साहित्य सेवा या किसी राजा महाराजा को प्रसन्न करने का ही हो सकता था परन्तु आनुसंगिक रूप से ऐसी साहित्यिक कृतियों द्वारा कई ऐतिहासिक तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।'[2]

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल से सम्बद्ध इतिहासपरक साहित्यिक स्रोतों को निम्नांकित रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) संस्कृत साहित्यिक स्रोत (Sanskrit Literary Sources)—अध्ययन काल के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्रोत ग्रन्थ निम्नांकित हैं—

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ 81-82
2 वही पृ 179

(1) चौहानों से सम्बन्धित संस्कृत स्रोत ग्रंथ—"चौहान शासक अजयराज अर्णोराज विग्रहराज चतुर्थ तथा पृथ्वीराज तृतीय केवल महान् योद्धा ही नहीं थे उनके राजाश्रय में अनेक विद्वान् व साहित्यकार रहते थे। विग्रहराज चतुर्थ कवियों द्वारा कवि बान्धव के नाम से पुकारा जाता था। उसने स्वयं हरिकेलि नाटक की रचना की थी जिसमें अर्जुन के प्रायश्चित तथा शिव से उसके युद्ध का वर्णन है। विग्रहराज चतुर्थ का राजकवि सोमदेव 'ललित विग्रहराज' नाटक का रचयिता है।[1] ये दोनों नाटक संस्कृत में रचित एवं शिलाओं पर उत्कीर्ण चौहानों द्वारा स्थापित 'सरस्वती मंदिर' (वर्तमान ढाई दिन का झोंपड़ा) से प्राप्त हुए हैं। इनका उल्लेख पूर्व में शिलालेखों के अन्तर्गत किया जा चुका है।

चौहान शासकों से सम्बन्धित आवश्यक तथ्यों का पता हम उनके आश्रय में रहे कवियों व साहित्यकारों से लगता है। पृथ्वीराज तृतीय के मंत्री पद्मनाथ ने 'जादुला शिलालेख' की रचना की तथा उसके कश्मीरी कवि जयानक ने पृथ्वीराज विजय काव्य लिखा जो ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी रचना है। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— जयानक का पृथ्वीराज विजय जो बारहवीं शताब्दी में लिखा गया था चौहानों के इतिहास तथा पृथ्वीराज द्वारा लड़े गए तराइन के युद्ध के लिए बड़ा उपयोगी है। इसी तरह नयचन्द्र सूरी का हम्मीर महाकाव्य (1403 ई.) रणथम्भौर के शासकों के इतिहास तथा हम्मीर द्वारा अलाउद्दीन के विरुद्ध लड़े गए युद्ध के अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी है।[2]

(2) उदयपुर राज्य के इतिहास के लिए संस्कृत स्रोत ग्रंथ—मध्यकालीन उदयपुर राज्य के इतिहास से सम्बद्ध संस्कृत ग्रंथों में जीवाधार का अमरसार, जगतसिंह काव्य, रणछोड़ भट्ट कृत राज प्रशस्ति महाकाव्य, राज्याभिषेक पद्धति और अमरकाव्य उल्लेखनीय हैं। अमरकाव्य में हम महाराणा प्रताप के अंतिम वर्षों का सच्चा इतिहास मिलता है और इसके द्वारा हम यह भी परिज्ञान होता है कि महाराणा के समय में शासन सम्बन्धी कितने उपयोगी परिवर्तन मेवाड़ में किए गए थे। राजरत्नाकर से हम हल्दीघाटी में अपनाए गए राजपूतों के युद्ध-कौशल का पता चलता है। राज प्रशस्ति महाकाव्य में महाराणा राजसिंह के समय में धार्मिक कृत्यों पर तथा सुधार और निर्माण कार्यों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी काव्य के द्वारा हम मेवाड़ और मारवाड़ के संयुक्त मोर्चे से किस प्रकार औरंगजेब की फौजों से टक्कर ली गई थी उसका अच्छा वर्णन मिलता है। राज्याभिषेक पद्धति में प्राचीन और मध्यकालीन राज्याभिषेक के उत्सव का सामंजस्य दिखाई देता है जिसका

1 प्रो. हुकमसिंह बघेला उत्तरी भारत का इतिहास पृ. 229–230
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा ऐतिहासिक निबंध राजस्थान पृ. 180
तथा Dr. Dashrath Sharma Early Chauhan Dynasties p. 337-38
3 वही, पृ. 179

प्रचलन महाराणा राजसिंह के समय में था। (सदाशिव कृत) 'राज रत्नाकर' के द्वारा धार्मिक व सामाजिक कृत्यों पर प्रकाश पड़ता है।'[3] इसके अतिरिक्त मंडन कृत 'राजवल्लभ स्थापत्य कला' को तथा कुम्भा रचित 'एकलिंग महात्म्य' गुहिल वंशी शासकों की वंशावली व सामाजिक दशा को समझने में सहायक स्रोत ग्रंथ हैं।

(3) अन्य राज्यों से सम्बन्धित संस्कृत स्रोत ग्रंथ—जयपुर राज्य के संस्कृत स्रोत ग्रंथों में सीताराम भट्ट कृत जयवंश महाकाव्यम् तथा श्रीकृष्ण भट्ट कृत ईश्वर विलास महाकाव्यम्' जयसिंह व ईश्वरीसिंह कच्छों के विवरण व तत्कालीन राजनीतिक सामाजिक व धार्मिक स्थिति की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।[1] बूंदी राज्य तथा तत्कालीन राजस्थान के एतिहासिक तथ्य सुजन चरित्र व शत्रुशालकाव्य' से विदित होते हैं।[2] 'जोधपुर राज्य के इतिहास के अध्ययन के लिए जगजीवन का 'अजितोदय (संस्कृत) काव्य की दृष्टि से तो अनुपम ग्रंथ है ही परन्तु इसकी ऐतिहासिक उपयोगिता भी किसी कदर कम नहीं है। राठौड़–मुगल संघर्ष का सच्चा विवेचन हम इस ग्रंथ से उपलब्ध होता है।[3] भट्टिकाव्य में जैसलमेर राज्य के विषय में जानकारी मिलती है। सदाशिव कृत राज विनोद' संस्कृत ग्रंथ से बीकानेर के 16वीं शताब्दी के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की झलक मिलती है।[4]

(ii) राजस्थानी साहित्य (Rajasthani Literature)—राजस्थानी साहित्य के अन्तर्गत राजपूत नरेशों के राज्याश्रय में रहे चारण–भाटों की कृतियाँ विशेष उल्लेखनीय है। डा एम दिवाकर का मत है कि— यूनानी और मुसलमान आक्रमणकारी अपने दरबार में विद्वान् रखते थे जो अपने शासकों की विजय गाथा का वर्णन लिखते रहते थे। इन्हीं से प्रभावित होकर मध्यकालीन राजपूत राजाओं ने विद्वानों और कवियों को अपने दरबार में सम्मान देना शुरू किया। ये कवि राजाओं की प्रशंसा में महाकाव्यों की रचना करते और राजघरानों का पूरा वर्णन लिखते रहते थे ऐसे कवियों को समय की बोली और भाषा में भाट या चारण कहा गया। धीरे धीरे यह एक जाति बन गई जिसका काम बड़े लोगों की प्रशंसा का काव्य में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना मात्र रह गया। इन भाटों और चारणों के काव्यों में भी इतिहास की सामग्री भरी पड़ी है। आवश्यकता है उनकी रचनाओं का बिना आवेश के समालोचनात्मक अध्ययन कर सत्य निकाल लेने की।'[5] राजस्थानी भाषा में रचित ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी साहित्य राजस्थान में अनेक विधाओं में लिखा गया है जिनमें आलोच्य अध्ययनकाल की स्रोत सामग्री के रूप में निम्नलिखित विधाएँ एवं रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

1 *Dr Gopi Nath Sharma* Jaipur Through Ages
2 नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग—46 पृ 205–223
3 डॉ गोपीनाथ शर्मा एतिहासिक निबन्ध राजस्थान पृ 180
4 डॉ गुप्ता व डॉ धाका राजस्थान का इतिहास पृ 297–298
5 डी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 18

(क) रासो (Raso)—चारण व भाटों द्वारा रचित रासो साहित्य में नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' तथा चन्दवरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' विशेष उल्लेखनीय हैं। बीसलदेव रासो हमारे अध्ययन काल के पूर्व की रचना है जिसमें चौहान नरेश विग्रहराज तृतीय व परमार राज उदयादित्य के संघर्ष का विवरण मिलता है। 'पृथ्वीराज रासो' पृथ्वीराज तृतीय के सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों से हमें अवगत कराता है किन्तु इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—'रासो काव्य में चन्दवरदाई का पृथ्वीराज रासो बड़ा प्रसिद्ध है। आधुनिक शोध से यह निश्चित हो गया है कि पृथ्वीराज रासो 16वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया था और इसलिए इसमें अंकित घटनाओं, वंशावलियों तथा व्यक्तियों की नामावली में कई अशुद्धियाँ रह गई हैं। परन्तु भाषा के अध्ययन के लिए 16वीं शताब्दी की युद्ध शैली की जानकारी के लिए तथा उस समय के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झाँकी के लिए पृथ्वीराज रासो की उपयोगिता टाली नहीं जा सकती।'[1] अतः रासो विधा में रचित राजस्थानी साहित्य ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं कहा जा सकता।

(ख) राजस्थानी इतिहासपरक काव्य ग्रन्थ—ऐतिहासिक महत्त्व के कुछ राजस्थानी भाषा में रचित काव्य ग्रन्थ भी स्रोत सामग्री के रूप में उल्लेखनीय हैं जिनमें शिवदास लिखित 'अचलदास खीची री वार्ता' (1433 ई.) गागरोन के खीची शासकों के विषय में, पद्मनाभ कृत 'कान्हड़दे प्रबन्ध' (1455 ई.) अलाउद्दीन के जालौर-आक्रमण से सम्बन्धित, बीकानेर के राजकुमार दलपत सिंह कृत 'दलपत विलास' अकबर-हेमू संघर्ष से सम्बन्धित, खिड़िया जगा कृत 'वचनिका' धरमत युद्ध के विषय में, कुँवर पृथ्वीराज राठौड़ कृत 'वेलि क्रिसन रुक्मणी री' तत्कालीन रीति रिवाज व वेशभूषा से सम्बन्धित, जोधपुर के चारण कवि वीरभाण रचित 'राजरूपक' अभयसिंह के विषय में तथा कवि या करणीदान कृत 'सूरज प्रकाश' जोधपुर नरेशों (जसवन्तसिंह, अजीतसिंह व अभयसिंह) से सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यों के लिए उपयोगी हैं। इन काव्यों में सूर्यमल्ल रचित 'वंश भास्कर' का सर्वाधिक ऐतिहासिक महत्त्व है।

वंश भास्कर (Vans Bhaskar)—वंश भास्कर के रचयिता सूर्यमल्ल मिश्रण का जन्म तत्कालीन बूँदी रियासत के हरणा गाँव में 19 अक्टूबर, 1815 ई. को एक चारण परिवार में हुआ था। उनकी माता पिता का नाम क्रमशः भवानी बाई तथा चण्डीदान था। उनके पिता विद्वान् व प्रतिभाशाली कवि थे। डॉ. गुप्ता व डॉ. आभा के अनुसार—'बूँदी का नरेश रामसिंह उसकी बड़ी इज्जत करता था। सूर्यमल्ल मिश्रण को बचपन से ही ऐतिहासिक एवं साहित्यिक वातावरण मिला था। उसमें विद्या, विवेक और वीरत्व का सुन्दर समन्वय था। उसकी गणना बूँदी के पाँच रत्नों में थी। वास्तव में वह चारणी आदर्शों का मूर्त रूप

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, ऐतिहासिक निबन्ध राजस्थान, पृ. 181

था। वह स्तुतिपरक नही था। 'इतिहास म प्रशसा नही होती इस सिद्धान्त मे प्रेरित रहते हुए उसने सदैव सत्य का ही समर्थन किया और जब सत्यता पर आच आते देखी तो बडे से बडे लोभ को भी उसने ठुकरा दिया। परिणामस्वरूप वश भास्कर ग्रन्थ भी अधूरा रह गया। महाकवि सूर्यमल्ल का देहान्त आषाढ सुदी 11 वि० स० 1925 (1868 ई) को हुआ।'[1] यह कथन वश भास्कर' ग्रन्थ की ऐतिहासिकता का प्रकट करता है।

सूर्यमल्ल रचित ग्रन्थो म केवल दो ग्रन्थ ही—(1) वश भास्कर तथा (2) वीर सतसई विशेष महत्त्व के है। वीर सतसई के विषय म डा महेश कुमार ओझा का यह कथन है कि— वीर सतसई राष्ट्रीय चेतना का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। वस्तुत यह काव्य 1857 के गदर की लिखित साक्षी है। वीर रसावतार सूर्यमल्ल ने वश भास्कर की रचना को बीच म ही छोड कर देशवासियो म स्वातन्त्र्य चेतना एव राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत की।'[2] डॉ गुप्ता व डा ओझा ने 'वश भास्कर के विषय म कहा है कि—'वश भास्कर का क्षेत्र काफी विस्तृत है। यद्यपि वश भास्कर का उद्देश्य मुख्यत बूदी के हाडा वश का इतिहास लिखना ही था तथापि ऐतिहासिक कलेवर म राजस्थान का ही नही अपितु समस्त भारतवष का इतिहास समाया हुआ है।[3] वश भास्कर के विषय म विभिन्न इतिहासकारो के मत उल्लेखनीय हैं। डा कानूनगो के शब्दो म— वश भास्कर का सबसे अधिक महत्त्व ऐतिहासिक सामग्री का विशाल सगठन है।[4] गौरीशकर हीराचन्द ओझा का मत है कि— मिश्रण ने इतिहास लिखने म विशेष खोज की हो ऐसा नही पाया जाता है।[5] डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो म— सूर्यमल्ल मिश्रण का वश भास्कर उपयोगी होते हुए भी 16वी शताब्दी के आसपास की भाटो की रचनाओ के आधार पर लिखा जाने स विश्वास योग्य नही है।[6] इन मतो के होते हुए भी वश भास्कर का ऐतिहासिक महत्त्व है क्योकि सूर्यमल्ल उपलब्ध स्रोतो के आधार पर ही सत्यता की रक्षा हेतु अपने इस ग्रन्थ की रचना की और अपने आश्रयदाता बूदी के महाराव रामसिह स मनमुटाव होते ही इस ग्रन्थ को अधूरा छोड दिया जिस बाद मे उनके दत्तक पुत्र मुरारीदान न पूरा किया किन्तु डा आलमशाह खान के अनुसार— ग्रन्थ की मूल योजना के विचार स मुरारीदान की पूर्ति के उपरान्त भी वश भास्कर अपूर्ण ही है।' डा दशरथ शर्मा, डा मोती लाल गुप्त कृष्णसिंह बारहट व डा मथुरालाल शर्मा का मत है कि वश भास्कर इतिहास की दृष्टि स एक उपयोगी ग्रन्थ है।

1 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास एक सर्वेक्षण पृ 298–99
2 राजस्थान पत्रिका 15 अगस्त 1989
3 पूर्वोक्त p 300
4 *Quanungo K R* Studies in Rajput History
5 गौरीशकर हीराचन्द ओझा राजपूताना का इतिहास
6 पूर्वोक्त p 200

(ग) ख्यातें (Khyats)—ख्यात वंशावली तथा प्रशस्ति का विस्तृत रूप है। 17वी और 18वी शताब्दी के इतिहास की जानकारी के लिए ख्यात साहित्य का महत्त्व बहुत अधिक है। ये ख्यातें राजस्थानी भाषा में गद्य साहित्य के रूप में मिलती हैं। डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— "ख्यात वंशावली तथा प्रशस्ति लेखन का विस्तृत रूप है। वंशावली लिखने की परम्परा पौराणिक काल से मिलती है तथा प्रशस्ति लेखन की परिपाटी ईसा की चौदहवी शताब्दी में देखी गई है। इस प्रकार प्रशस्ति तथा वंशावलियों के लिखने की पद्धति को आधार बना कर *ख्यातों का लिखना प्रारम्भ हुआ जिसका विस्तृत रूप सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध* में प्रमाणित होता है।[1] इनमें से कुछ प्रमुख ख्यातों का विवरण इस प्रकार है—

(1) नैणसी री ख्यात (*Nainsi Ri Khyat*)—मुहणोत नैणसी का जन्म 1610 ई. में ओसवाल परिवार में हुआ। नैणसी ने जोधपुर नरेश गजसिंह व जसवन्तसिंह के समय में अनेक युद्धों में भाग लिया और युद्धों का संचालन किया। 1667 में महाराजा जसवन्तसिंह ने नैणसी को दीवान के पद पर नियुक्त किया। बाद में जसवन्तसिंह द्वारा बन्दी बनाये जाने पर नैणसी ने 1670 ई. में आत्महत्या कर ली। *डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— "नैणसी को बाल्यकाल से ही इतिहास* सम्बन्धी बातों की जानकारी में बड़ी रुचि थी। जब कभी वे किसी चारण, भाट या किसी विशेष जानकार व्यक्ति से मिलते थे या किसी पुरानी पुस्तक को पढ़ते थे तो वे इतिहास के उपयोगी अंश को अपनी डायरी में दर्ज कर लिया करते थे। जब वे महाराजा जसवन्तसिंह के दीवान नियुक्त हुए तो इस कार्य में उन्हें अधिक सुविधा हो गई। धीरे धीरे यह संकलन समृद्ध होता गया जो मुहणोत नैणसी री ख्यात के नाम से विख्यात है। इसमें काठियावाड़, मालवा, बुन्देलखण्ड, उदयपुर, *बांसवाड़ा, डूंगरपुर, प्रतापगढ़, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, जयपुर, बूंदी, सिरोही* आदि राज्यों के इतिहास का बहुत बड़ा संग्रह है। कई वंशों की पीढ़ियाँ जो इसमें दी गई हैं अन्यत्र अप्राप्य हैं।[2] ऐतिहासिक उपयोगिता के अतिरिक्त नैणसी की ख्यात का साहित्यिक महत्त्व भी है। इस ख्यात से उत्तरकालीन मध्ययुग की राजस्थानी भाषा पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मुंशी देवी प्रसाद ने तो नैणसी को राजपूताने का अबुल फजल कहा है।[3] वस्तुतः यह कथन सत्य है क्योंकि जिस प्रकार अकबर बादशाह के समय अबुल फजल ने अपने ग्रन्थ आइने अकबरी की रचना की उसी प्रकार मारवाड़ राज्य से सम्बद्ध ग्रन्थ की रचना नैणसी ने की। डा. मनोहरसिंह राणावत के शब्दों में— "एक इतिहासकार के रूप में भारतीय साहित्य को नैणसी की देन सर्वथा अनुपम है। 14वीं शताब्दी के बाद के राजपूताना के राजनीतिक इतिहास के लिए तो नैणसी की ख्यात फारसी ग्रन्थों से कहीं अधिक विशेष महत्त्व की है।"

1–2 पूर्वोक्त पृ. 183–84
3 ओझा निबन्ध संग्रह पृ. 72–74

फारसी के इतिहास ग्रन्थों में जो अन्तराल पाये जाते हैं नैणसी की ख्यात उनकी बहुत कुछ पूर्ति करती है।[1]

(ii) 'परगना री विगत' (Paragana Ri Vigat)—यह ग्रन्थ भी मुहणोत नैणसी की रचना है। डा राणावत ने इसके सम्बन्ध में कहा कि— नैणसी का दूसरा ग्रन्थ मारवाड़ रा परगना री विगत मारवाड़ का इतिहास ग्रन्थ ही नहीं है अपितु वहाँ के सभी परगनों की जानकारी का सब संग्रह है। इसमें राठौड़ राजवंश के संस्थापक रावसीहा से महाराजा जसवंतसिंह के शासनकाल के 1665 ई तक के इतिहास का विवरण है। प्रत्येक परगने के इतिहास के साथ ही जोधपुर के शासकों द्वारा नियुक्त वहाँ के विभिन्न अधिकारियों का भी उल्लेख कर दिया गया है और प्रत्येक परगने के गाँवों का भी विस्तृत वर्णन दिया गया है जिससे मारवाड़ राज्य की प्रशासनिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की प्रचुर जानकारी मिलती है।[2]

(iii) दयालदास की ख्यात (Dayaldas Khyat)—डा गुप्ता व डा ओझा के अनुसार— जोधपुर के प्रारम्भिक इतिहास के लिए यह ख्यात बड़ी महत्वपूर्ण है। महाराजा रतनसिंह के आदेश से दयालदास ने बीकानेर राज्य की सबसे पहले क्रमवार सिंढायत लिखी थी जिसमें रावबीकादास से लेकर महाराजा सरदारसिंह के राज्यारोहण तक का विस्तृत इतिहास दिया है।'[3] डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— ख्यातों में जो स्थान नैणसी री ख्यात और बांकीदास री वातां का प्राप्त है वही स्थान दयालदास की ख्यात का भी है। दयालदास बीकानेर की सिंढायच शाखा के चारण थे। वे बीकानेर नरेश महाराजा रतनसिंह सरदारसिंह और डूंगरसिंह के विश्वास पात्र थे। इन्होंने अनेक वंशावलियों पट्टों, परवानों और बहियों तथा शाही फरमानों और राजकीय दफ्तर और पत्रों को अपनी ख्यात तैयार करने में काम में लिया था। दयालदास ने ऐतिहासिक महत्त्व का ध्यान में रखते हुए अपनी ख्यातों में बोलचाल की भाषा को साहित्यिक भाषा की तुलना में अधिक प्रधानता दी है जो तत्कालीन लोक भाषा की जानकारी के लिए बड़ी उपयोगी है।'[4]

उपरोक्त ख्यातों के अतिरिक्त अन्य ख्यातों में 'बांकीदास री ख्यात जोधपुर राठौरा री ख्यात 'मुंडता री ख्यात, 'किशनगढ़ री ख्यात, उदयपुर री ख्यात भाटियां री ख्यात आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

(iv) उर्दू व फारसी साहित्य (Urdu & Persian Literature)—डा गुप्ता व डॉ ओझा का यह कथन उपयुक्त है कि— मुस्लिम राज्य स्थापित होने के साथ ही इतिहास-लेखन में भी नयापन आया और मुस्लिम शासकों के दरबार

1-2 डॉ मनोहरसिंह राणावत इतिहासकार मुहणोत नैणसी और उसके इतिहास ग्रन्थ प्रस्तावना, पृ VI
3 डॉ के एस गुप्ता व डॉ जे के ओझा राजस्थान का इतिहास एक सर्वेक्षण, पृ 304
4 पूर्वोद्धृत, पृ 185

मे रह रहे इतिहास लेखको ने फारसी म तवारीखें लिखी। मुगलकाल म यह प्रक्रिया और अधिक बढी। कुछ बादशाहो द्वारा लिखी आत्मकथाओ म तथा कुछ की जीवनियो म भी राजस्थान के इतिहास से सम्बन्धित सामग्री मिलती है।[1] डा वी एम भागव के अनुसार—"फारसी भाषा म लिपिबद्ध पुरालेख साधन फरमान मन्सूर रुक्का निशान हस्बुल, ईशा और रवेयात तथा वकील रिपोर्ट के रूप म मिलते हैं। फरमान मन्सूर व रुक्के सम्राट के द्वारा जारी किए जाते थे। ये शाही वश के लोगो के नाम सम्राट के अधीन मनसबदारो के नाम विदेशी शासको के नाम जारी होते थे। उन पर सम्राट की मुहर होती थी और सम्राट के दायें हाथ का पजा अथवा सम्राट के स्वय के द्वारा लिखी गई पक्तियाँ भी होती थी।[2] बाद म उर्दू भाषा म लिपिबद्ध ऐतिहासिक सामग्री भी उपलब्ध हुई हैं जिनम राजपूत राजघरानो की 'बहियाँ' (जैसे हकीकत बही हुकूमत बही व खरीता बही) पट्टे परवाने पत्र व्यवहार की नकलें आदि प्रमुख हैं। ये उर्दू व फारसी के साहित्य की मूल प्रतियाँ या उनकी नकल प्रतियाँ राजकीय व देशी राज्यो के सग्रहो म उपलब्ध हैं। राजकीय पुरालेखागारो (Archives) म इस प्रकार का प्रचुर साहित्य उपलब्ध है। फारसी ग्रथो म निम्नांकित विशेष उल्लेखनीय हैं जिनसे मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पडता है—

तुजुके बाबरी हसन निजामी कृत ताज उल म आसिर मिनहाज उस सिराजकृत तबकात ए नासिरी खुसरो कृत तारीख अलाई व खजायनुल फुतूह जियाउद्दीन बरनी कृत तारीख ए फीरोजशाही अफीफ रचित तारीख ए मुबारक शाही तुजुक ए जहाँगीर गुलबदन बेगम कृत हुमायू नामा अब्बास खाँ सरवानी की 'तारीख ए शेरशाही' अबुल फजल कृत आइन ए अकबरी व अकबरनामा मुहम्मद काजिम का आलमगीरनामा आदि। डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दो मे— राजस्थान के इतिहास को जानने के लिए ये फारसी ग्रथ निश्चित ही बडे उपादेय हैं। इनमे क्रमबद्ध वर्णन के साथ साथ तिथियो का सही उल्लेख भी मिलता है।[3] वी एम दिवाकर के अनुसार— मुगलकाल म हर बादशाह के दरबार मे इतिहासकार रहते थे जिनके मूल ग्रथो म मुगलकाल के इतिहास के साथ साथ उनका राजस्थान से सघर्ष व सम्बन्धो पर प्रकाश पडता है।[4]

(v) जैन साहित्य (Jain Literature)—दिवाकर ने जैन साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है कि— जैन साधुओ द्वारा लिखी पट्टावली भी इतिहास ग्रथ है जिसमे देश के बडे-बडे शासको और राजवशो का वर्णन मिलता है। जैन धर्म के साहित्य का अध्ययन करने से राजस्थान के लोगो का रहन सहन रीति रिवाज आदि का भी पता चलता है।[5] डा वी एस भार्गव का

1 पूर्वोक्त p 304
2 p 25 26
3 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास एक सर्वेक्षण p 305
4-5 वी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 23 व 18

भी मत है कि— 'राजस्थान की भौगोलिक सीमाओं के भीतर अनेक स्थानों पर जैन भण्डारों में जो साहित्य संग्रहीत है वह इस प्रदेश की ऐतिहासिक जानकारी का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। ये जैन भण्डार जैसलमेर, बीकानेर, सादडी आदि स्थान पर हैं। इस साहित्य से मध्यकालीन राजस्थान के धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।'[1]

जैन साहित्य के निम्नांकित ग्रंथ मध्यकालीन राजस्थान के लिए महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं—

कक्कड सूरी का 'नाभीनन्दन जिनोधार प्रबंध', नयचन्द्रसूरी कृत 'हम्मीर महाकाव्य', सोम सूरी कृत 'सोम सौभाग्य महाकाव्य', समय सुन्दर कृत 'शिम्हल सूत्र', हेमरत्न कृत 'गोरा बादल', उपाध्याय लब्धोदय कृत 'पद्मिनी चरित्र चौपाई', दौलत विजय रचित 'खुमान रासो' आदि। इन ग्रंथों का ऐतिहासिक महत्त्व अध्ययन काल के विभिन्न प्रकरणों में यथास्थान उल्लेख किया गया है।

(ग) राजस्थान के आधुनिक ऐतिहासिक ग्रंथ (Modern Historical Literature of Rajasthan)—मध्यकालीन अध्ययन काल से सम्बद्ध राजस्थान के इतिहास के अनेक ग्रंथ व शोध कार्य आधुनिक काल में प्रकाश में आये हैं। इनमें निम्नांकित ग्रंथ विशेष उल्लेखनीय हैं—

(1) कर्नल जेम्स टाड का 'एनाल्स एण्ड एण्टीक्विटीज ऑफ राजस्थान' (Col James Todd's Annals and Antiquities of Rajasthan)—टाड ब्रिटिश इंडिया कम्पनी की सेवा में सैनिक अधिकारी थे। 1817 से 1822 तक उन्होंने पश्चिमी राजस्थान में Political Agent का कार्य किया। उन्होंने अपने इस ग्रंथ के प्रथम व द्वितीय भाग को 1829 व 1832 में तथा दूसरे ग्रंथ 'पश्चिम राजस्थान की यात्रा' (Travels in Western Rajasthan) को 1839 में प्रकाशित कराया। एनाल्स ग्रंथ के प्रथम भाग में राजस्थान का भौगोलिक विवरण, राजपूतों की वंशावली, सामन्ती व्यवस्था तथा मेवाड राज्य का इतिहास दिया गया है और दूसरे भाग में मारवाड, बीकानेर, जैसलमेर, आमेर व हाडौती राज्यों का विवरण लिखा है। 'पश्चिम राजस्थान की यात्रा' ग्रंथ में टाड ने अपने यात्रा विवरण में राजपूत समाज तथा अन्हिलवाडा, अहमदाबाद व बडौदा राज्यों के इतिहास का भी वर्णन किया है।

टाड को राजस्थान से इतना स्नेह था और वह यहाँ के शौर्य एवं त्याग से इतना प्रभावित था कि उसने लिखा है कि— 'राजस्थान में कोई भी छोटा राज्य ऐसा नहीं है जिसमें थर्मोपाली जैसी रणभूमि न हो और कदाचित ही कोई ऐसा नगर हो जहाँ लियोनीडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो।' टॉड ने चारण भाटों की ख्यातों, दन्त-कथाओं व वंशावलियों के आधार पर अपने गुरु जैन यति ज्ञानचन्द की सहायता से अपने ग्रंथों की रचना की जिसमें राजपूत वीरों की कीर्ति जो पहले भारत में सीमाबद्ध थी, सारे भूमण्डल में फैल गई। परन्तु शिलालेख,

ताम्रपत्र, सिक्के आदि ठीक ठीक न पढ़ने से और मूता नैणसी की ख्यात जैसे उपयोगी ग्रन्थ के अप्राप्त होने से ग्रन्थ में कई अशुद्धियाँ रह गई[1]।

डा. गोपीनाथ शर्मा ने भी 'एनाल्स' ग्रन्थ की आलोचना करते हुए लिखा है कि— इस पुस्तक से स्पष्ट है कि टाड का राजस्थान के इतिहास में कितना प्रेम था। कई राजवंशों के विवेचन के लिए, कई स्थानों के वर्णन के लिए तथा कई संस्थाओं और परम्पराओं के वर्णन टाड कृत राजस्थान अनेक ऐतिहासिक पहलुओं पर प्रकाश डालता है। परन्तु भाटों की पुस्तकों, ख्यातों और वंशावलियों पर आधारित होने के कारण इसमें कई स्थल दोषपूर्ण हैं।[2] डा. एम. भार्गव के अनुसार इस ग्रन्थ में निम्नांकित कमियाँ हैं—[3]

(1) टाड का सम्बन्ध केवल राजपरिवारों से ही रहा अतः उसका विवरण पूर्वाग्रहों से प्रेरित है।

(2) टाड संस्कृत, प्राकृत, अरबी या फारसी भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वह इन भाषाओं की स्रोत सामग्री का उपयोग अन्य लोगों के आधार पर ही कर सका।

(3) मध्यकालीन राजस्थान का विवरण मुगलों से संघर्ष का वर्णन करने के कारण साम्प्रदायिक तनाव की वृद्धि में सहायक हुआ।

(4) टाड ने जनसाधारण का वर्णन न कर सामन्तवर्गी समाज का वर्णन किया व उसकी तुलना यूरोपीय सामन्तवाद से कर भ्रान्तियाँ उत्पन्न की।

(5) टाड ने कुछ घटनाओं के क्रम व उनकी शुद्ध तिथियों के उल्लेख में त्रुटियाँ की हैं।

उपरोक्त कमियों का निराकरण नवीन ऐतिहासिक शोधों के आधार पर किया जा रहा है। फिर भी टाड के ग्रन्थ को इतिहासकार आदि स्रोत ग्रन्थ के रूप में महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

(2) वीर विनोद (Vir Vinod)— वीर विनोद के रचयिता कविराज श्यामलदास ने उदयपुर के महाराणा शम्भूसिंह की प्रेरणा से तथा बाद में महाराणा के उत्तराधिकारियों *महाराणा सज्जनसिंह व महाराणा फतहसिंह* के समय इस ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ 1892 ई. में कई भागों व 3000 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ जिस पर लगभग एक लाख रुपया खर्च हुआ। जगदीश गहलोत के अनुसार— इसमें उदयपुर राज्य का इतिहास बहुत विस्तार से शिलालेखों आदि से लिखा गया और राजपूताना तथा बाहर के अन्य राज्यों का जिनका किसी प्रकार उदयपुर से सम्बन्ध रहा उनका संक्षिप्त इतिहास ख्यातों आदि से दिया गया है।[1] महाराणा

1 जगदीशसिंह गहलोत ऐतिहासिक निबन्ध माला p 81
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा एतिहासिक निबन्ध राजस्थान p 199
3 पूर्वोद्धत p 32-33
4 पूर्वोद्धत p 83

फतहसिंह ने इस ग्रंथ पर प्रतिबंध लगा दिया और मौलवी अब्दुलरहमी द्वारा रचित तारीफ राजस्थान नाम से दूसरा इतिहास ग्रंथ प्रकाशित कराया।

इस ग्रंथ पर प्रतिबंध लगाने के पूर्व जो प्रतियाँ बिक चुकी थीं उनके आधार पर इस ग्रंथ की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। डा वनी गुप्ता के शब्दों में— विद्वद्वर महामहोपाध्याय श्री श्यामलदास की अमर रचना वीर विनोद से कौन अपरिचित होगा। राजस्थान के प्रामाणिक इतिहास लेखन का यह प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। मेवाड राज्य का समस्त सरकारी रेकार्ड राजस्थान के अन्य राज्यों के समस्त लिखित अथवा संग्रहीत इतिहास तथा शिलालेखों के संग्रह तथा अन्य साधन एवं स्रोत उन्हें प्राप्त थे। भारत के तत्कालीन इतिहास का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। परिणामस्वरूप एक विशाल ग्रंथ की रचना हो गई।[1] डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— इस ग्रंथ में उदयपुर राज्य का इतिहास विस्तार से और भारतीय तथा अन्य राजस्थानीय राज्यों का इतिहास संक्षेप में दिया गया है। लेखक ने शिलालेखों फर्मानों ख्यातों फारसी तवारीखों के आधार से ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ा दी है। डा वी एस भार्गव का यह कथन उपयुक्त है कि— जिस प्रकार अकबर महान् के शासन काल में अबुल फजल ने ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह किया था ठीक उसी स्तर पर कविराजा ने ऐतिहासिक सामग्री का चयन करके वीर विनोद की रचना की। डा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी इस ग्रंथ की सहायता 'राजपूताना का इतिहास' लिखने में ली है।

आधुनिक काल में मध्यकालीन राजस्थान से संबद्ध अन्य ऐतिहासिक ग्रंथों एवं शोध कार्यों में निम्नांकित प्रमुख हैं—

(1) मुंशी देवीप्रसाद कृत 'राजस्थान के महापुरुषों की जीवनियाँ' (1939)
(2) रामनाथ रत्नू कृत 'इतिहास राजस्थान' (1894)
(3) गौरीशंकर हीराचंद ओझा रचित 'राजपूताने का इतिहास' (1925),
(4) रामनारायण दूगड कृत 'राजस्थान रत्नाकर' (1909),
(5) मुंशी ज्वाला सहाय कृत 'वकाये राजपूताना' (1878)
(6) डा मथुरालाल शर्मा रचित कोटा व जयपुर के इतिहास,
(7) डॉ गोपीनाथ शर्मा कृत Mewar & the Mugal Emperors,
(8) डा दशरथ शर्मा रचित Early Chauhan Dynasties
(9) डा के आर कानूनगो कृत Studies in Rajput History
(10) डॉ वी एस भार्गव कृत Maratha & the Mugal Emperors
(11) डॉ आर एन प्रसाद रचित Raja Man Singh of Amber
(12) डा वी एस भटनागर कृत Sawai Jai Singh

उपरोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास से संबद्ध अनेक शोध ग्रंथ भी प्रकाश में आये हैं जिनसे हमारे अध्ययन काल का वैज्ञानिक अध्ययन हुआ है।

---

1 डॉ मथुरालाल शर्मा एवं डॉ वेनी गुप्ता (सं) वीर विनोद भूमिका
2 पूर्वोद्धृत पृ 196

2 तेरहवीं शताब्दी में राजस्थान—तुर्की आक्रमणों का प्रतिरोध

(Rajasthan During the 13th Century—Resistance to Turkish Invasions)

तेरहवीं शताब्दी के पूर्व बाह्य आक्रमण

तेरहवीं शताब्दी में राजस्थान पर तुर्की आक्रमणों के प्रतिरोध के पूर्व की स्थिति का वर्णन करते हुए डॉ. गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि— इस युग (8वीं से 11वीं शताब्दी) में तथा इसके बाद उन्हें (राजपूतों को) बाहरी आक्रमणों का भी मुकाबला करना पड़ा जो स्थानीय पारस्परिक युद्धों से अधिक भयानक था। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही जबकि कुछ राजपूत वंश अपनी स्थिति पूरी तौर से जमाने भी न पाए थे कि अरबों का आक्रमण भारतवर्ष के पश्चिमी भागों पर हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि सिंध और आस पास के भागों पर उनका अधिकार स्थापित हो गया। धीरे धीरे इनकी शक्ति बढ़ती गई जिससे मालवा, मारवाड़ तथा भड़ौच आदि स्थान उनके भय से खाली नहीं समझे जाने लगे। अरब आक्रमणों का राजस्थान के राजनीतिक जीवन में बड़ा प्रभाव पड़ा। भीनमाल का चाप वंश और चित्तौड़ का मौर्य वंश तो अवश्य अरब आक्रमण में जर्जरित हो गए परन्तु साथ ही राजस्थान में गुहिल, चौहान, परमार और प्रतिहार इतने शक्ति सम्पन्न हो गए कि अरब शक्ति राजस्थान के राजनीतिक जीवन के संतुलन को न बिगाड़ सकी और ये वंश उत्तरोत्तर प्रबल होते रहे। लगभग तीन शताब्दी तक राजस्थान के कुछ भागों को विदेशी आक्रमण का कोई भय नहीं रहा। परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही उत्तर भारतीय राजनीतिक जीवन में एक नया मोड़ आया। उत्तर पश्चिम से आने वाली बर्बर तुर्की जाति अपने विध्वंसकारी अभियानों से युग युगान्तर के सांस्कृतिक जीवन को समाप्त करने पर उतारू हो गयी। इस जाति का नेतृत्व महमूद गजनवी ने किया।[1]

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 151–52

महमूद गजनवी ने भारत पर अनेक आक्रमण किए। ये आक्रमण 1000 ई० से 1027 ई० तक प्रायः प्रतिवर्ष ही होते रहते थे। महमूद के आक्रमणों का प्रतिरोध यदि राजस्थान के राजपूत वंश मिलकर करते तो उनसे सुरक्षा हो सकती थी किन्तु ये राजवंश अपनी स्वार्थ पूर्ति में लगे रहे। धनलोलुप महमूद ने 1026 ई० में गुजरात के सोमनाथ मन्दिर को लूटने हेतु जो आक्रमण किया उसका मार्ग लोद्रवा (जैसलमेर) होकर था तथा जाने का मार्ग कच्छ और सिंध होकर था। इससे मुस्लिम आक्रान्ताओं को राजस्थान पर आक्रमण करने का मार्ग मिल गया जिसका उपयोग महमूद के उत्तर पश्चिमी भारतीय सीमा त के विजित प्रदेशों के अधिकारियों ने किया।[1] 1079 में सुल्तान इब्राहीम ने भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर अधिकार कर शाकम्भरी के चौहान नरेश दुर्लभराज की हत्या कर दी और नाडोल के शासक पृथ्वीपाल पर तुर्कों ने आक्रमण किया।[2] फिर तुर्क शासक मासूद तृतीय ने मालानी (बाड़मेर प्रदेश) पर अधिकार कर लिया। चौहान शासक अर्णोराज ने अजमेर के निकट इन तुर्की आक्रमणों का तथा खुसरो मलिक का चौहान नरेश विग्रहराज चतुर्थ ने परास्त किया।

डा० गोपीनाथ शर्मा ने इस समय की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि 'इन प्रारम्भिक तुर्कों के आक्रमणों में यह स्पष्ट है कि राजपूत शक्ति का उस समय तक एक शौर्य का स्तर था जिसके कारण गजनवी वंश के आक्रमणों से राजस्थान को कोई हानि न उठानी पड़ी। परन्तु साथ ही साथ इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि राजस्थानी नरेशों ने चौहानों के साथ एक होकर इस शक्ति को नष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वे अपने अपने वंश की प्रमुखता बढ़ाने की होड़ में लगे रहे और अपने पारस्परिक वैमनस्य को भी अन्त न कर सके। ऐसी अवस्था में यदि गजनी शक्ति को उत्तरी पश्चिमी सीमा में पनपने न दिया जाता तो गौरी आक्रमणों की सम्भावना न होने पाती। परन्तु पिछले गजनवियों का अस्तित्व तथा गौरी वंश की शक्ति चौहानों तथा भारतीय स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध हुई। यहीं से प्रारम्भ होने वाला संघर्ष सदियों का एक क्रमिक घटना चक्र बन गया।'[3] गौरी वंश के शासकों ने गजनी पर भी अधिकार कर लिया। गजनी के गवर्नर शहाबुद्दीन गौरी ने 1173 में भाटी राजपूतों से उच्च का प्रदेश जीत लिया। चौहान नरेश पृथ्वीराज तृतीय के समय चौहान व तुर्की साम्राज्य की सीमाएँ मिली हुई थीं। ऐसी स्थिति में चौहान तुर्क अर्थात् पृथ्वीराज चौहान तथा मुहम्मद गौरी का संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया था।

डॉ० वी० एस० भार्गव का कथन है कि—'भारत पर मुहम्मद गौरी के आक्रमणों का तांता 1175 ई० से शुरू हुआ और 1205–6 तक चलता रहा। उत्तर भारत के प्रतापी राजपूत नरेश पृथ्वीराज चौहान से 1191 में दिल्ली से

1 *D Dashrath Sharma* Rajasthan through the Ages p 253
2 *Dr Dashrath Sharma* Early Chauhan Dynasties p 36
3 डा० गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 153 व 167

80 मील दूर तराइन का प्रथम युद्ध हुआ जिसमे चौहान राजा ने गौरी पर भयंकर मार मारी। अगले ही वर्ष 1192 मे गौरी ने एक विशाल सेना के साथ पुन आक्रमण किया और तराइन के इस दूसरे युद्ध मे राजपूतो की दुर्भाग्यपूर्ण पराजय हुई और पृथ्वीराज को बन्दी बनाकर मौत के घाट उतार दिया गया। तुर्क आक्रांता *शाहम्मद गौरी ने आगे बढ़कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।*[1]

तेरहवीं शताब्दी मे राजस्थान—तुर्की आक्रमणों का प्रतिरोध

(Rajasthan during 13th Century–Resistance of Turkish Invasions)

डा गुप्ता व डा ओझा ने तराइन के दूसरे युद्ध के बाद की राजस्थान की राजनीतिक दशा का वर्णन करते हुए कहा है कि— तराइन के दूसरे युद्ध के बाद राजस्थान की शक्ति विकेन्द्रित हो गई। पृथ्वीराज चौहान के विशाल राज्य का एक छोटा सा भाग उसके पुत्र गोविन्दराज को दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक ने रणथम्भोर के रूप मे प्रदान किया। जालोर मे चौहानो की अन्य शाखा सोनगरा चामड तथा आबू चन्द्रावती मे परमार वश जसलमेर मे भाटी मेवाड मे गुहिल वश आदि जो कि तराइन युद्ध के पूर्व पृथ्वीराज तृतीय के सामन्त शासक के रूप मे शासन करते थे आमेर के कछवाहो के अनुरूप स्वतन्त्र शासक बन गए।
डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— द्वितीय तराइन के युद्ध से भारतीय राजनीति मे एक नया मोड आया। परन्तु इसका यह अर्थ नही था कि तराइन के बाद चौहानो की शक्ति समाप्त हो गई। लगभग एक शताब्दी तक चौहानो की शाखाए जो रणथम्भोर, जालोर, नाडोल तथा चन्द्रावती और आबू मे शासन कर रही थी राजपूत शक्ति की धुरी बनी रही। इन्होने (तुर्क) सुल्तानो की सत्ता का समय समय पर मुकाबला कर अपने शौर्य और अदम्य साहस का परिचय दिया।[2] मुहम्मद गौरी ने अपने भारतीय विजित प्रदेशो पर *शासन का प्रतिनिधि अपने गुलाम कुतुबुद्दीन* ऐबक को बनाया था जिसने भारत मे प्रथम मुस्लिम राज्य की गुलाम वश के नाम से स्थापना की जो 1206 से 1295 तक सत्तारूढ रहा और उसके बाद 1296 से 1316 तक अन्य तुर्क–शासको के खिलजी वश ने शासन किया। अत तेरहवी शताब्दी मे इन्ही दो तुर्क राजवशो—गुलाम व खिलजी के शासको के राजस्थान मे आक्रमणो एव राजपूतो द्वारा उसके प्रतिरोध का विवेचन इस अध्याय मे किया जा रहा है।

(क) रणथम्भोर दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी की विजय तथा हम्मीर द्वारा प्रतिरोध

(Allauddin Khilji's Conquest of Ranthambhor Fort and Resistance by Hammir)

पृष्ठभूमि—तराइन के द्वितीय युद्ध (1192) के पश्चात् गुलाम वश के संस्थापक कुतुबुद्दीन ऐबक ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज को रणथम्भोर का राजा

1 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 92-93

2 डॉ के एस गुप्ता व डॉ जे के ओझा राजस्थान का इतिहास एक सर्वेक्षण p 174

बनाया किन्तु अजमेर पानी तथा नागौर में सैनिक छावनियां स्थापित कर दी थी। गोविन्दराज के उत्तराधिकारी क्रमश बाल्हण प्रह्लादन व वीरनारायण थे। वीरनारायण को पराजित एव मार कर दूसरे गुलाम वंशी शासक इल्तुतमिश ने 1226 में रणथम्भौर दुर्ग पर अधिकार कर लिया किन्तु रजिया सुल्ताना के समय रणथम्भौर के शासक ने पुन स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। सुल्तान नासिरुद्दीन (1246 1265 ई) के समय उसके सेनापति बलबन के रणथम्भौर आक्रमण को वहाँ के चौहान शासक वाग्भट्ट ने विफल कर दिया। खिलजी वंश की स्थापना से पूर्व वाग्भट्ट के पुत्र जैत्रसिंह ने नासिरुद्दीन के आक्रमण को विफल किया किन्तु कर देने पर विवश हुआ। खिलजी वंश के शासकों से जैत्रसिंह के पुत्र हम्मीर ने वीरता पूर्वक युद्ध किया जिसका विवरण इस प्रकार है—

हम्मीर चौहान—नयनचन्द्र सूरि कृत हम्मीर महाकाव्य' के आधार पर डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—'हम्मीर देव जैत्रसिंह का तीसरा पुत्र था। सम्भवत सभी पुत्रों में योग्यतम होने के कारण उसके पिता ने उसका राज्यारोहण उत्सव 1282 ई में अपने जीवन-काल में ही सम्पन्न कर दिया था। शासन का भार सम्भालते ही उसने 1288 ई तक दिग्विजय को सम्पादित कर बड़ी ख्याति प्राप्त की और रणथम्भौर की सीमा को बढ़ाया।"[1] जैत्रसिंह के तीन पुत्र थे। सूरतचन्द्र विरमा और हम्मीर। डा दशरथ शर्मा का भी यही मत है— सबसे छोटा होते हुए भी हम्मीर को ही शासन-भार सौंपा गया क्योंकि वह सबसे योग्य था। उसकी माता का नाम हीरादेवी था। वह अपने पिता की मृत्यु के बाद 1282 ई में गद्दी पर बैठा था। अपने अन्तिम समय में जैत्रसिंह चम्बल नदी पर स्थित पाटन तीर्थ गया था।[2] प्रबन्ध कोष ग्रन्थ से हम्मीर के राज्याभिषेक की यह तिथि पुष्ट होती है।

हम्मीर की दिग्विजय—हम्मीर के शासनकाल की घटनाओं के निम्नांकित ऐतिहासिक स्रोत ग्रंथ हैं—

(1) नयचन्द्र सूरि कृत 'हम्मीर महाकाव्य'।
(2) चन्द्रशेखर कृत हम्मीर हठ'।
(3) बलवन का शिलालेख।
(4) जोधराज रचित हम्मीर रासा।
(5) जियाउद्दीन बरनी कृत 'तारीखे-फिरोजशाही' व 'फतवाए जहाँदारी'।
(6) अमीर खुसरो की रचनाएँ।
(7) आधुनिक इतिहासकारों में डॉ दशरथ शर्मा गौरीशंकर ओझा तथा डा गोपीनाथ शर्मा के ग्रंथ।

उपरोक्त ग्रंथों के आधार पर हम्मीर की दिग्विजय का पता चलता है। वी एस भार्गव के शब्दों में— हम्मीर ने सबसे पहले भीमरस के शासक अर्जुन को पराजित किया। बलवन शिलालेख में अर्जुन को मालवा का शासक बताया

1 पूर्वोक्त, p 170 तथा हम्मीर महाकाव्य, सर्ग 4, श्लोक 159
2 डॉ दशरथ शर्मा प्रारम्भिक चौहान वंश

गया है जो हम्मीर के पिता जयसिंह के समकालीन जयसिंह का उत्तराधिकारी था। इसी शिलालेख में यह भी वर्णन मिलता है कि हम्मीर ने मालवा के शासक अर्जुन की हस्तिसेना पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। मालवा जीतने के बाद हम्मीर ने मांडलगढ़ को जीता और वहाँ के राजा से बहुत सी भेंट आदि वसूल की। मांडलगढ़ की विजय को अलग अलग इतिहासकारों ने अलग अलग नाम से पुकारा है। हरविलास शारदा ने इसे मांडलगढ़ कहा है तो कुछ प्राचीन ग्रंथ इसे मांडल-कूट कहते हैं। डा दशरथ शर्मा और ओझाजी इसे मांडलगढ़ कहते हैं। जो भी हो हम्मीर की दूसरी विजय मांडलगढ़ थी। उसके बाद उसने अश्वमेध यज्ञ कर अपनी दक्षिण विजय का अभियान शुरू किया। इसमें उसने राजा भोज जो परमार वंश का था पराजित कर उज्जैन और धार को अपने अधीन किया। उत्तर की तरफ लौटते हुए उसने दस स्थानों को विजय कर अपने अधीन किया। हम्मीर ने एक ही दौर में चित्तौड़ आबू वर्धनपुर चंगा, पुष्कर मरोठ खंडेला चम्पा व कोंकरिला को जीतकर अपने अधीन कर लिया। उसकी अंतिम विजय करौली की थी। हम्मीर ने अपना यह विजय अभियान 1288 ई में शुरू किया था। इन सब विजयों के अतिरिक्त नयचन्द्र सूरि ने हम्मीर महाकाव्य में एक और परमार राजा का वर्णन किया है जिसे हम्मीर ने धार नामक स्थान पर पराजित किया था।[1] डा गुप्ता व डा ओझा के अनुसार—'इस सब में उसने दोहरी नीति अपनाते हुए कई राज्यों को जीत कर अपने साम्राज्य का अंग बनाया तो कई राज्यों से केवल कर ही लिया। इस विजय ने राजस्थान में रणथम्भौर के चौहानों की पद प्रतिष्ठा को प्रतिष्ठापित कर दिया। परन्तु यह स्थिति अधिक समय तक न रह सकी।[2]

हम्मीर के तुर्कों के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक युद्ध—उपरोक्त दिग्विजय के अतिरिक्त हम्मीर ने तुर्की सुल्तानों के विरुद्ध निम्नांकित प्रतिरक्षात्मक युद्ध किए—

(1) जलालुद्दीन खिलजी का आक्रमण (1290–91 ई)—बलबन की मृत्यु के बाद जलालुद्दीन खिलजी के सुल्तान बनने की अवधि 1287 से 1290 ई तक दिल्ली में व्याप्त अराजकता की स्थिति में हम्मीर ने अपनी शक्ति बढ़ा ली थी किन्तु जलालुद्दीन ने सुल्तान बनते ही 1290 ई में हम्मीर की राज्य सीमा में स्थित झांई (जाहिन) के दुर्ग को जीत कर वहाँ के नगर को नष्ट कर स्वर्ग से नरक बना दिया। झांई के दुर्ग की रक्षा में युद्ध करते हुए हम्मीर का सेनापति गुरदास सैनी मारा गया। इसके बाद जलालुद्दीन रणथम्भौर के निकट पहुँचा किन्तु हम्मीर की सहायतार्थ आये अनेक पड़ौसी नरेशों की सेना को देखकर जलालुद्दीन घबरा गया और उसने दिल्ली लौटने का निश्चय किया। उसके सेनापतियों के यह समझाने पर भी कि इससे उसका सम्मान कम हो जायगा उसने कहा कि—'ऐसे दस किलों को भी मुसलमान के बाल के बराबर नहीं समझता।' उसने दुर्ग का घेरा उठा लिया और 2 जून 1291 को वह दिल्ली लौट आया। इस प्रकार हम्मीर तुर्कों के

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 76–77
2 पूर्वोक्त p 19

विरुद्ध इस प्रतिरक्षात्मक युद्ध में सफल रहा और उसने आबू दुर्ग पर पुनः अधिकार कर लिया।[1]

(ii) अलाउद्दीन खिलजी का आक्रमण (1299-1301 ई.)—अलाउद्दीन खिलजी के विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक युद्ध करने में हम्मीर ने अनुपम वीरता व शौर्य का प्रदर्शन किया किन्तु वह पराजित हुआ और रणथम्भौर दुर्ग पर तुर्कों का अधिकार हो गया। इस प्रकार हम्मीर ने 17 युद्ध किए जिनमें से 16 में उसे विजय प्राप्त हुई तथा अन्तिम एक में वह पराजित हुआ। इस आक्रमण का विस्तृत विवरण इस प्रकार है—

रणथम्भौर दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी की विजय
(Alauddin Khilji's Invasion on Ranthambhor Fort)

आक्रमण के कारण

उपलब्ध स्रोतों के आधार पर इतिहासकारों ने रणथम्भौर दुर्ग पर अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण के निम्नांकित कारण बताए हैं—

(1) रणथम्भौर दुर्ग का सैनिक महत्त्व—डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार, वह अलाउद्दीन यह भली भाँति जानता था कि यदि वह मालवा और गुजरात को अपने राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित करता है और अपने अभियान का एक स्थायी घटना बनाता है तो उसे राजस्थान के दुर्गों को अपने अधिकार में करना होगा। इसी नीति के तत्त्वावधान में सुल्तान ने रणथम्भौर विजय को अपनी उत्तरी भारत विजय का अंग बनाया।[2] यह दुर्ग दिल्ली से दूर भी नहीं था तथा सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।

(2) जलालुद्दीन की असफलता का बदला लेना—डॉ. वी. एस. भार्गव का मत है कि—"जलालुद्दीन खिलजी इस किले पर अधिकार करने में असफल रहा था। यह असफलता खिलजी साम्राज्य के लिए एक करारी चपत थी।"[3]

(3) शक्ति परीक्षा करना—डॉ. के. एस. लाल के अनुसार वास्तव में रणथम्भौर पहली रियासत थी जिसे राजपूतों की शक्ति के आजमाने के लिए चुना गया था।[4] वस्तुतः यह दुर्ग सुदृढ़ और अजेय था जो मुस्लिम शासकों के लिए एक चुनौती था। अतः अलाउद्दीन अपनी सैन्य शक्ति की परीक्षा इसे विजित करने से करना चाहता था।

(4) विद्रोही मंगोल मुहम्मदशाह को शरण देना—डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव

1 तारीख ए फिरोजशाही (इलियट डाउसन), खण्ड-3 पृ. 148
व अमीर खुसरो : खजाइनुल फुतूह (अनु.), खण्ड-3 पृ. 540-42
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास पृ. 177
3 पूर्वोद्धृत, पृ. 78 व 97
4 डॉ. के. एस. लाल : खिलजी वंश का इतिहास

के अनुसार— 'हम्मीर देव ने कुछ विद्रोही नव मुसलमानों को अपने यहाँ शरण दी थी। उसके इस दुस्साहस के लिये उसे दण्ड देना अलाउद्दीन अभिवांछनीय समझता था।'[1] ये मंगोल विद्रोही मुहम्मदशाह के नेतृत्व में जालौर में उलुग खाँ और नुसरत खाँ के खीमे से भाग कर हम्मीर की शरण में आ गये थे। उलुग खाँ ने उनसे गुजरात विजय से लायी गई लूट का 1/5 भाग माँगा था जिसको देने में मंगोलों ने आनाकानी की थी। जब ये विद्रोही हम्मीर के दरबार में चले गए तो सुल्तान ने उसे अपने विद्रोहियों को लौटा देने को लिखा। हम्मीर ने इनको लौटा देना अपनी शान और वंश मर्यादा के विरुद्ध समझा और युद्ध के लिए तैयार हो गया।[2] अन्य स्रोतों के आधार पर डा बी एस भार्गव का कथन है कि— "इस बात की पुष्टि ईसामी के वर्णन से भी होती है। चन्द्रशेखर के हिन्दी पद्य हम्मीर हठ से जाहिर होता है कि सुल्तान की मराठा बेगम जिसका नाम जोधरान था हम्मीर रासो में चिमना बेगम बताया है चिमना मीर मुहम्मदशाह से प्रेम करती थी। बेगम ने सेनापति से मिलकर सुल्तान के विरुद्ध जालसाजी की और जब सुल्तान को इस सम्बन्ध में पता चला तो मुगल सरदार मुहम्मदशाह हम्मीर की शरण में चला गया।[3] इस प्रकार यह घटना युद्ध का तात्कालिक कारण बन गयी।

(5) अलाउद्दीन की साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा—अलाउद्दीन की महत्त्वाकांक्षा थी कि वह सिकन्दर के समान विश्व विजेता बने। अत उसने रणथम्भोर को विजित कर अपने साम्राज्य विस्तार का कार्य आरम्भ किया।

रणथम्भोर दुर्ग पर आक्रमण की घटनाएँ

1299 ई में अलाउद्दीन खिलजी ने अपने दो प्रमुख सेनानायकों उलुग खाँ और नुसरत खाँ को रणथम्भोर दुर्ग पर आक्रमण हेतु भेजा। तुर्क सेना ने मार्ग में झाँई दुर्ग पर अधिकार कर हम्मीर से शरणार्थी मुहम्मदशाह को वापस लौटाने को कहा किन्तु हम्मीर ने शरणागत की रक्षा को अपना धर्म समझ कर यह माँग अस्वीकृत कर दी। सेनापति उलुग खाँ का बनास नदी के तट पर युद्ध हम्मीर के सेनापति भीमसिंह व धर्मसिंह से हुआ जिसमें तुर्कों की हार हुई। हम्मीर महाकाव्य के आधार पर डा गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि— राजपूत सेना का भाग जो धर्मसिंह के नेतृत्व में था लूट का माल लेकर रणथम्भोर लौट गया और भीमसिंह की टुकड़ी धीरे धीरे दुर्ग की ओर चली। राजपूतों ने यह सोचा था कि बनास पर पड़ी हुई सेना ही सब कुछ है परन्तु तुर्कों की सेना जो अल्लफ खाँ के नेतृत्व में थी चारों ओर बिखरी हुई थी। उस सेना ने लौटती हुई भीमसिंह की फौज पर धावा बोल दिया। हिन्दुवाट (हिन्दावत) घाटी में घमासान युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप

1 डॉ ए एल श्रीवास्तव दिल्ली सल्तनत पृ 178
2 तारीख ए फीरोजशाही (इलियट डाउसन) भाग-3 पृ 148
3 पूर्वोद्धृत पृ 78 व 97

भीमसिंह और उसके सैकड़ों साथी रण स्थल में खेत रहे। उलुग खाँ ने राजपूतों का उस समय पीछा करना उचित नहीं समझा वह दिल्ली लौट गया।'[1]

भीमसिंह की मृत्यु का दायी हम्मीर ने धर्मसिंह को माना। अतः उसे मन्त्री पद से हटाकर उसके स्थान पर उसके भाई भोज को बनाया किन्तु भोज तुर्क आक्रमण के कारण बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति को सम्भालने एवं नष्ट फसलों की क्षतिपूर्ति करने में असफल रहा। हम्मीर ने बिना सोचे समझे भोज को हटा कर व अपमानित कर पुनः धर्मसिंह को मन्त्री बनाया तथा रतिपाल को दण्ड नायक बनाया। भोज अपने भाई पृथ्वसिंह के साथ अलाउद्दीन के दरबार में गया जहाँ से उसे जगरा' की जागीर मिली। धर्मसिंह ने धन संग्रह हेतु कई कर लगा दिए जिससे प्रजा में असंतोष बढ़ा और महँगाई बढ़ गई।[2] हम्मीर महाकाव्य के अनुसार— चावल का एक दाना सोने के दो दानों' के बदले में ही खरीदा जा सकता था। मनुष्य प्रत्येक पीड़ा सह सकता है किन्तु भूखे पेट की पीड़ा नहीं। ऐसी विषम परिस्थितियों में हम्मीर ने निर्णायक युद्ध करने का निर्णय किया। भोज ने अलाउद्दीन को हम्मीर पर आक्रमण हेतु प्रेरित किया। अलाउद्दीन खिलजी ने बयाना के गवर्नर उलुग खाँ व कड़ा के गवर्नर नुसरत खाँ को 1300 ई. में रणथम्भौर पर आक्रमण हेतु भेजा। रणथम्भौर दुर्ग पर घेरा डाला गया।

तुर्क सेनापतियों ने हम्मीर को सन्देश भिजवाया कि यदि वह आत्म समर्पण कर दे तो तुर्क सेना दिल्ली चली जायेगी। साहूकारों व महाजनों ने भी हम्मीर को आत्म समर्पण हेतु सलाह दी किन्तु हम्मीर ने इस परामर्श को ठुकरा कर अपने शरणार्थी की रक्षा करने का संकल्प दुहराया।[3] अतः तुर्कों ने दुर्ग पर भीषण आक्रमण किया। दुर्ग की प्राचीरों को तोड़ने के प्रयत्न में नुसरत खाँ मारा गया। तुर्क सेना आतंकित हो भाग तक पीछे हट गई किन्तु अलाउद्दीन स्वयं सेना लेकर घटना स्थल पर आ उपस्थित हुआ। उसने बोरों में रेत भरवा कर खाइयों को भरना तथा ऊँचे स्थान बनाकर उन पर पाशिब व 'मगरबी' स्थापित करने का प्रयास किया जिसमें राजपूतों के पश्चिमी मोर्चे को तोड़ा जा सके। राजपूतों ने दुर्ग की प्राचीरों में तेल में भीगे कपड़ों में आग लगा कर तुर्क सेना पर फेंकना शुरू किया।[4] वर्षा ऋतु आरम्भ होने तथा दिल्ली व अवध में विद्रोह की सूचना मिलने से अलाउद्दीन चिंतित होने लगा। इधर दुर्ग में रसद समाप्त होने से राजपूत भी व्यग्र थे। अतः हम्मीर के सेनानायक रतिपाल व अलाउद्दीन में संधि वार्ता चली। अलाउद्दीन ने रतिपाल को तथा रतिपाल के द्वारा अन्य सेनापति रणमल्ल को अपनी ओर मिला लिया। अतः रतिपाल ने कुछ प्राचीरों व बुर्जों से मोर्चे व दी हटा कर

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ. 178
2 हम्मीर महाकाव्य सर्ग 9, श्लोक 108-150
3 अमृत कलश हम्मीर प्रबन्ध
4 [illegible]

फलस्वरूप उसकी फौजें सुदूर नागदा तक पहुँच गईं। नागदा को नष्ट किया परन्तु जयसिंह द्वारा स्थान स्थान पर सुल्तान का विरोध किया गया। जयसिंह ने मेवाड़ से तुर्की सेना को भगाया था। यह घटना 1222 और 1229 ई. के बीच होना सम्भावित है।'[1]

अतः स्पष्ट है कि तुर्कों के मेवाड़ आक्रमण का प्रतिरोध राणा जयसिंह के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि "इल्तुतमिश का नागदा पर अभियान पूरी तरह असफल बनाया गया था जिसमें तुर्की सेना को पग-पग में आपत्ति का सामना करना पड़ा था। फलतः इस अभियान ने भावी अभियानों की आकांक्षाओं को प्रोत्साहन न दिया।"[2] जयसिंह के पुत्र तेजसिंह (1252–1273) ने गुलाम वंश के सुल्तान बलबन के मेवाड़ पर आक्रमण का सफलतापूर्वक प्रतिरोध किया था। तेजसिंह के पुत्र समरसिंह (1273–1302 ई.) के राज्यकाल में 1299 ई. में सुल्तान अलाउद्दीन के छोटे भाई उलुग खाँ से गुजरात-अभियान के समय मेवाड़ की सीमा से होकर निकलने पर राणा ने उससे दण्ड लिया था। समरसिंह की मृत्यु के बाद उसका पुत्र रत्नसिंह (1302–1303 ई.) मेवाड़ का शासक बना। रत्नसिंह के समय में ही 28 जनवरी 1303 ई. को अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया जिसने चित्तौड़ की राजनीतिक स्वतन्त्रता और शान्तिमय जीवन का अन्त कर दिया।

अलाउद्दीन के चित्तौड़-आक्रमण के कारण
(Causes of Alauddin's Invasion of Chittor)

इतिहासकारों ने अलाउद्दीन के चित्तौड़-आक्रमण के निम्नलिखित कारण निर्धारित किए हैं—

(1) अलाउद्दीन की महत्त्वाकांक्षा—अलाउद्दीन सिकन्दर सानी (विश्व विजेता) बनना चाहता था। गुजरात व रणथम्भौर विजय के बाद वह चित्तौड़ दुर्ग को जीतना चाहता था ताकि वह अपनी दक्षिण विजय पूर्ण कर सके। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— 'सुदूर दक्षिण को भी वह अपने राजनीतिक प्रभाव क्षेत्र में रखना चाहता था। दक्षिण भारत की विजय तथा उत्तरी भारत पर उसके प्रभाव का स्थायित्व तभी सम्भव था जब वह चित्तौड़ जैसे अभेद्य दुर्ग को अपने अधिकार में करे। यहीं से होकर गुजरात, मालवा, मध्यप्रदेश, संयुक्त प्रान्त, सिंध आदि भागों में व्यापारिक मार्ग जाते थे।'[3]

(2) चित्तौड़ दुर्ग की सैनिक उपयोगिता—चित्तौड़ दुर्ग की सामरिक उपयोगिता के सम्बन्ध में डॉ. शर्मा का कथन है कि— व्यापारिक उपयोगिता से

1 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, p. 158–163
तथा Dr. Dashrath Sharma : Rajasthan Through the Ages, p. 654
2 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, p. 196
3 पूर्वोक्त, p. 109

कही अधिक चित्तौड़ की सैनिक उपयोगिता थी। राजनीतिक सत्तावादी नीति की सफलता एस दुर्गों के अधिकार स अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती थी।'[1]

(3) मेवाड़ की विस्तारवादी नीति—रत्नसिंह के पूर्वजो ने गुजरात व मालवा मे अपने राज्य विस्तार की नीति अपनाई थी। डा बी एस भार्गव के अनुसार—'उसके तीन पूर्ववर्ती शासक जत्रसिंह तेजसिंह और समरसिंह तेरहवी शताब्दी म दिल्ली के मुस्लिम सुल्तानो म लडते झगडते रह थ। जब दिल्ली मे मुस्लिम राज्य स्थापना की प्रक्रिया म था, उस समय मेवाड न मालवा और गुजरात म अपने प्रभाव का विस्तार कर लिया था।[2]

(4) चित्तौड की रानी पद्मिनी को हस्तगत करना—कर्नल जेम्स टाड का मत है कि—'भट्ट ग्रथो ने इस बात का स्वीकार किया है कि अलाउद्दीन न पद्मिनी के कारण ही चित्तौड पर आक्रमण किया था। टाड के अतिरिक्त जायसी फरिश्ता, हाजी उद्दबीर और अ य पाश्चात्य व फारसी लेखको न पद्मिनी के रूप को राणा और सुल्तान के युद्ध का मूल कारण बताया है। अलाउद्दीन ने राणा को लिख भेजा कि अपनी रूपमती रानी पद्मिनी को उसके हरम (महल) म भेज दो तो चित्तौड को स्वत त्र राज्य मान लेगा। राणा न इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और दोनो म युद्ध हुआ।'[3] पद्मिनी को हस्तगत करने के इस कारण का विस्तार स विवेचन करना आवश्यक है।

क्या पद्मिनी प्रकरण कपोल कल्पित कहानी है ?
(Is Padmini Episode a mere myth ?)

अलाउद्दीन द्वारा पद्मिनी का हस्तगत करना चितौड–आक्रमण का तात्कालिक कारण माना जाता रहा है।[4] इसम ऐतिहासिक तथ्य क्या है ? इसका विवेचन किया जाना वांछनीय है। डा गोपीनाथ शर्मा[5] का मत है कि—'इस कथा का प्रचलन मुख्य रूप से मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत नामक हिन्दी काव्य ग्रथ म आरम्भ होना माना गया है। इस ग्रथ की रचना शेरशाह सूर के समय 1540 ई म की गई थी। पद्मावत वर्णन के लगभग 70 वर्ष बाद मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीखे फरिश्ता' लिखी। उसन पद्मिनी को राणी न कहकर राणा की राजकुमारी बताया और उस दिल्ली भेजने की बात लिख दी। हाजी उद्दबीर का पद्मिनी क वर्णन म रत्नसिंह और पद्मिनी का नाम नहीं है पर उसके बजाय एक गुणवती स्त्री का वर्णन है। इसी कथा को कुछ पाठा तर स कर्नल टाड ने भाटो की पुस्तको के आधार पर लिखा। उसन रत्नसेन के स्थान पर भीमसिंह का सम्बन्ध पद्मिनी स जोडा। उसने यह घटना लक्ष्मणसिंह के समय की बताइ और

1–2 पूर्वोद्धत p 108–9
3 टॉड एनल्स एण्ड एंटीक्विटिज ऑफ राजस्थान p 151
4 बी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास, p 87
5 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 209–216

भीमसिंह को लक्ष्मणसिंह का चाचा माना।" इस प्रकार 'पद्मावत' काव्य के आधार पर बाद के इतिहासकारों ने पद्मिनी की कथा को भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णित किया है। इस कथा को सत्य तथा असत्य मानने वाले इतिहासकारों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है तथा उनके तर्कों की परीक्षा की जा सकती है।

इतिहासकारों का प्रथम वर्ग जिनमें प्रो मुहम्मद हबीब, प्रो एम राय प्रो एम सी दत्त डॉ दशरथ शर्मा डा आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव मुनिजिन विजय व डा गोपीनाथ शर्मा सम्मिलित हैं इस कथा को सत्य मानकर स्वीकार करते हैं उनमें से कुछ के मत इस प्रकार हैं। डॉ दशरथ शर्मा का मत है कि— यह केवल साहित्यिक कल्पना नहीं है। जो लोग इसे मलिक मोहम्मद जायसी के मस्तिष्क की सूझ बूझ मानकर काल्पनिक समझते हैं वे भूल करते हैं क्योंकि जायसी के महाकाव्य से 14 वर्ष पहले गीता चरित्र में पद्मिनी की कहानी को लिपिबद्ध किया गया था।"[1] अपने मत के समर्थन में उनका तर्क है कि जायसी के काव्य पद्मावत में अंतिम 4 पंक्तियाँ जिनके आधार पर इस कथा को एक दृष्टांत कथा माना जाता है उन प्रामाणिक प्रतियों में नहीं हैं जिनका वैज्ञानिक ढंग से सम्पादन डा माताप्रसाद गुप्त व डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने किया है। पद्मावत में राघव चेतन भिक्षुक की कथा भी ऐतिहासिक सत्य है क्योंकि उसका वर्णन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कृतियों में भी विद्यमान है। पद्मावत से पूर्व रचित छिताई चरित तथा गोरा बादल चरित ग्रंथों में इस घटना का उल्लेख है। इस कथा को सत्य मानते हुए ही फरिश्ता हाजी उद्दबीर अबुलफजल व टॉड ने अपने ग्रंथों में उसका उल्लेख किया है। रामवल्लभ सोमानी भी इस कथा को सत्य मानते हैं।

पद्मिनी की कथा का खण्डन करते हुए उसे असत्य मानने वाले इतिहासकारों के वर्ग में डा गौरीशंकर हीराचन्द ओझा डॉ लाल डा कानूनगो डा आशीर्वादीलाल आदि प्रमुख हैं। डा ओझा का कथन है कि— इतिहास के अभाव में लोगों ने पद्मावत को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया परन्तु वास्तव में वह आजकल के ऐतिहासिक उपन्यासों की सी कवितावद्ध कथा है जिसका कलेवर इन ऐतिहासिक बातों पर रचा गया है कि रत्नसेन चित्तौड़ का राजा पद्मिनी उसकी रानी और अलाउद्दीन दिल्ली का सुल्तान था जिसने रत्नसेन से लड़कर चित्तौड़ का किला छीना था। बहुधा अन्य सब बातें कथा को रोचक बनाने के लिए कल्पित खड़ी की गई हैं।[2] डॉ लाल का भी मत है कि— मलिक मुहम्मद जायसी की इस कथा ने जिसमें प्रेम क्रीड़ा, साहस और विषाद सुन्दरता से सजाए गए हैं शीघ्र ही जन साधारण के मस्तिष्क में स्थान बना लिया। फारसी वृत्तान्तकारों ने कल्पना और वास्तविकता के बीच कोई भेद करने की अधिक चिन्ता नहीं की और इसे सच्चा इतिहास मान लिया। कहानी के परम्परागत वर्णन को ताक पर रखने के पश्चात् नग्न सत्य यह है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने 1303 ई में चित्तौड़ पर

1 *Dr Dashrath Sharma* Rajasthan Through the Ages
2 डॉ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास p 187

आक्रमण किया और आठ माह के विकट संघर्ष के पश्चात् उसे अधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा आक्रांता से युद्ध करते हुए खेत रहे और वीर राजपूत स्त्रियाँ जौहर की ज्वालाओं में समाधिस्थ हो गई। जो स्त्रियाँ समाधिस्थ हुई उनमें सम्भवतः रत्नसिंह की एक रानी भी थी, जिसका नाम पद्मिनी था। इन तथ्यों के अतिरिक्त और सब कुछ एक साहित्यिक संरचना है, और उसके लिए ऐतिहासिक समर्थन नहीं है।'[1] डा कानूनगो के शब्दों में— पद्मिनी तथा उससे सम्बन्धित अधिकांश व्यक्तियों के अस्तित्व में सन्देह है और सम्पूर्ण वर्णन एक कथानक मात्र है।'[2]

उपरोक्त पक्ष व विपक्ष के मतों का मूल्यांकन करते हुए डा गुप्ता व डा ओझा का यह कथन उल्लेखनीय है कि—'पद्मिनी की कथा के संदिग्ध होने का सबसे बड़ा कारण जायसी का 'पद्मावत' है जो कि अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों एवं काल्पनिक उड़ानों से समृद्ध है। वस्तुतः जायसी एक सूफी संत था उसका उद्देश्य भारतीय लोक मानस में सूफी मत की प्राण प्रतिष्ठा करना था। इसीलिए उन्होंने पद्मिनी की कथा को काव्य आधार बनाया। यद्यपि पद्मावत की समस्त घटनाएँ सत्य नहीं हैं तथापि सूत्ररूप से किसी एक घटना की सत्यता निर्विवाद है।'[3] बी एम दिवाकर का भी मत है कि— कहानी में इतना सत्य है कि पद्मिनी राणा रत्नसिंह की रानी थी जो राणा के युद्ध में मारे जाने पर अग्नि में जल कर मर गई थी। राणा का पकड़ा जाना भी राजपूत मानते हैं। उसे नीति से छुड़ाया गया यह भी सत्य ही है किन्तु पद्मिनी का 1600 पालकियों में जाना, जिसे फरिश्ता सिर्फ 700 बताता है और उद्वीर 500 ही गिनता है। जायसी और फरिश्ता कहते हैं कि उसे चित्तौड़ के पास ही पहाड़ियों में रखा गया। ये सब कथा की कल्पना का अंग है। जायसी के आधार पर इसे इतना बना ऐतिहासिक सत्य नहीं मानना चाहिए। अभी अनुसंधान की और आवश्यकता है जो वास्तविक सत्य को हमारे सामने रख सके।[4]

अलाउद्दीन की चित्तौड़ पर विजय—उपरोक्त कारणों की समीक्षा करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि— इसमें कोई सन्देह नहीं कि चित्तौड़ आक्रमण के लिए अलाउद्दीन का प्रमुख आशय राजनीतिक था परन्तु जब पद्मिनी की सुन्दरता का हाल उसे मालूम हुआ तो उसकी लगन की उत्कंठा उसमें तीव्र हो गई। आक्रमण के कारणों में राजनीतिक महत्वाकांक्षा के साथ पाशविक पिपासा का पुट लगा हो ऐसा आभास दिखाई देता है।[5] अतः अलाउद्दीन के आक्रमण का प्रमुख उद्देश्य उसकी साम्राज्यवादी एवं विस्तारवादी नीति ही थी।

1 डॉ लाल खिलजी वंश का इतिहास, p 102-107
2 *Dr Qanungo* Studies in Rajput History
3 डॉ के एस गुप्ता व डॉ जे के ओझा राजस्थान का इतिहास-एक सर्वेक्षण
4 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 94
5 पूर्वोक्त, p 215

अलाउद्दीन के चित्तौड़ दुर्ग के घेरे व आक्रमण के समय उसके साथ अमीर खुसरो भी था जो लिखता है कि दुर्ग 26 अगस्त, 1303 ई. को फतह हुआ। दुर्ग की रक्षार्थ युद्ध करते हुए वीर गोरा तथा बादल ने प्राणोत्सर्ग किया। जब अलाउद्दीन ने किले में प्रवेश किया तो पद्मिनी रानी 1600 स्त्रियों के साथ जौहर कर चुकी थी जो चित्तौड़ का पहला शाका कहलाता है। सुल्तान ने हिन्दुओं का कत्ल करने के बाद किला अपने पुत्र खिज्र खाँ को सौंपा व दिल्ली चला गया। किले का नाम खिजराबाद रखा गया। खिज्र खाँ 1318 तक चित्तौड़ में रहा किन्तु प्रशासन ठीक से न करने के कारण जालौर के बागी सरदार मालदेव सोनगरा को यह दुर्ग सौंप दिया गया किन्तु 1316 में अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद उसके निर्बल उत्तराधिकारी मालदेव व उसके पुत्र की सहायता न कर सके। 1340 में चित्तौड़ को पुनः हस्तगत करने का श्रेय हम्मीर को मिला।

अलाउद्दीन खिलजी की सिवाना दुर्ग पर विजय तथा शीतल देव द्वारा प्रतिरोध

(Alauddin Khilji's Conquest of Siwana and Resistance by Shital Deo)

चित्तौड़ विजय के तीन वर्ष बाद अलाउद्दीन पुनः राजस्थान में राज्य विस्तार की ओर गया और उसने 2 जुलाई 1308 में वर्तमान राजस्थान के बाड़मेर जिले में स्थित सिवाना दुर्ग पर आक्रमण किया। विभिन्न स्रोतों के आधार पर डा. गुप्ता व डा. ओझा ने इस आक्रमण का विवरण देते हुए कहा है कि— यह दुर्ग कान्हड़देव (सिरोही के सोनगिरा चौहान शासक) के भतीजे शीतल देव के पास था। फुतूहात फिरोजशाही के अनुसार यह घेरा दीर्घ चला। खिलजी सेनाओं ने इसको लेने के कठोर प्रयास किये जिनमें उन्हें बड़ा नुकसान भी हुआ किन्तु डा. दशरथ शर्मा के अनुसार अलाउद्दीन इसमें निराश होने वाला नहीं था। उसने दुगनी गति से आक्रमण किया। शीतल देव ने डट कर मुकाबला किया। नैणसी की ख्यात और कान्हड़दे प्रबन्ध के अनुसार विश्वासघात के कारण अन्त में अलाउद्दीन को सफलता मिली। डा. दशरथ शर्मा का मत है कि हार का वास्तविक कारण पानी का अभाव था अतएव स्त्रियों ने जौहर किया व राजपूत सैनिकों ने अन्त तक खिलजी सेना का सामना कर अपना जीवन उत्सर्ग किया।

अमीर खुसरो ने भी सिवाना के सैनिकों की वीरता और शौर्यता की बहुत प्रशंसा की है। अन्त में नवम्बर में अलाउद्दीन को दुर्ग लेने में सफलता मिली और यहाँ का शासक शीतल देव मारा गया। कमालुद्दीन गुर्ग को वहाँ का प्रशासक नियुक्त कर अलाउद्दीन अपनी राजधानी लौट गया। इस दुर्ग का नाम उसने खैराबाद रख दिया। परन्तु राजस्थान का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण संघर्ष उसका जालौर से हुआ।[1]

1 डॉ. गुप्ता एवं डॉ. ओझा राजस्थान का इतिहास–एक सर्वेक्षण p 32

अलाउद्दीन की जालौर दुर्ग पर विजय एवं कान्हड़ देव द्वारा प्रतिरोध
(Alauddin s Conquest of Jalore Fort and Resistance by Kanhad Deo)

पृष्ठभूमि—अलाउद्दीन खिलजी के समय जालौर स्थित दुर्ग पर चौहानों की सोनगिरा शाखा का शासक कीर्तिपाल था जिसने तुर्कों का वीरता से प्रतिरोध किया। उसके पूर्वजों ने भी तुर्कों से संघर्ष किया था। प्राचीन शिलालेखों के आधार पर जालौर का प्राचीन नाम जाबालीपुर तथा दुर्ग का नाम स्वर्णगिरि था जिसे अपभ्रंश भाषा में सोनगढ़ कहते थे। इसी के आधार पर चौहानों की यहाँ राज्य करने वाली शाखा का नाम 'सोनगरा' हो गया। प्रारम्भ में यह दुर्ग परमारों के अधिकार में था जो कभी स्वतन्त्र तो कभी चालुक्यों के अधीन सामन्त के रूप में राज्य करते थे। जालौर तोपखाने के शिलालेख के अनुसार नाडौल शाखा के चौहान शाखा के शासक कीर्तिपाल ने 1181 में जालौर दुर्ग को प्रतिहारों से छीन कर राज्य स्थापित किया।[1]

कीर्तिपाल के पुत्र समरसिंह ने दुर्ग को सुदृढ़ कर गुजरात के शासक भीमदेव द्वितीय से अपनी पुत्री लीला देवी का विवाह कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाई। समरसिंह के पुत्र उदयसिंह (1205–1257) ने सपादलक्ष के चौहानों के पतन के बाद तुर्की साम्राज्य विस्तार का प्रतिरोध किया। उसने मंडोर व नाडौल को जीत कर तुर्की गुलाम वंश के सुल्तान की शक्ति को नीचा दिखाया।[2] उसके पुत्र चाचिग देव (1257 1282) ने तुर्क सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद व बलबन के समय अपनी राज्य सीमा को बढ़ाया। चाचिग देव के पुत्र सामन्तसिंह (1282 1305) के समय अलाउद्दीन खिलजी का 1291 में सांचौर आक्रमण को गुजरात के शासक बाघेला सारंग देव की सहायता से विफल किया गया था। सामन्तसिंह के पुत्र कान्हड़ देव के समय अलाउद्दीन खिलजी से सीधा संघर्ष हुआ।[3]

अलाउद्दीन के जालौर–आक्रमण के कारण

अलाउद्दीन के जालौर दुर्ग पर आक्रमण के निम्नांकित कारण थे—

(1) जालौर की भौगोलिक व सामरिक स्थिति—डा गोपीनाथ शर्मा ने जालौर की भौगोलिक एवं सामरिक स्थिति का इस प्रकार वर्णन किया है— जिस प्रकार रणथम्भौर के चौहान एक सुदृढ़ शक्ति के रूप में थे उसी प्रकार जालौर के चौहान भी तुर्की सल्तनत के लिए कंटक के समान थे। जालौर मारवाड़ राज्य की सीमा का सुदृढ़ किला था जहाँ से गुजरात तथा मालवा की ओर दिल्ली से मार्ग जाते थे। सुल्तानों की दक्षिण विजय के स्वप्न साकार बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक था कि जालौर जैसे सुदृढ़ गढ़ को अपने अधिकार में रखें। इसी कारण समय समय पर यहाँ के शासकों का और तुर्कों का संघर्ष चलता रहा।[4]

1 डॉ दशरथ शर्मा अर्ली चौहान डाइनेस्टीज p 145–46
2 नैणसी ख्यात भाग-1 p 158
3 तारीख ए फीरोजशाही (इलियट-डाउसन) भाग-3 p 32–33
4 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 182

(2) जालौर शासक की बढ़ती हुई शक्ति—जालौर के कान्हड़ देव स पूर्व शासकों ने अपनी राज्य सीमा का काफी विस्तार कर लिया था। सांचौर के युद्ध म तुर्की सेना की पराजय म अलाउद्दीन खिलजी कुपित था और प्रतिशोध लेना चाहता था। गुजरात रणथम्भोर व जालोर के शासकों की मुस्लिम विरोधी नीति एव प्रतिरोध की भावना से तुर्क सुल्तान की दक्षिण विजय की महत्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं हो रही थी। अत उसने जालौर दुर्ग को विजित करने का मानस बनाया।

(3) अलाउद्दीन का विजय अभियान—जसा कि पूर्व म कहा गया है अलाउद्दीन सिकन्दर सानी (विश्व विजेता) बनना चाहता था, उसकी रणथम्भोर व चित्तौड़ की विजयो से उसका माग प्रशस्त हो रहा था। वह दक्षिण विजय हेतु माग के अवरोध जालौर को अधिकृत करना चाहता था।

(4) तात्कालिक कारण—गुजरात अभियान म भाग न देना—अलाउद्दीन के जालौर आक्रमण का तात्कालिक कारण उसकी सना को गुजरात अभियान के *समय माग न देना तथा लौटते समय उस पर आक्रमण करना था।* 1298 म गुजरात अभियान को जाते समय अलाउद्दीन न कान्हड़ देव को माग देने हेतु कहा किन्तु कान्हड़ देव ने उत्तर भिजवाया कि— जो सना ब्राह्मण विरोधी है और गौओं की हत्या करती है तथा स्त्रियो तथा शान्तिप्रिय जनता को बन्दी बनाती है उनके प्रति उसकी कोई सहानुभूति नहीं। तुक सना के सनापतियो—उलुग खाँ व नुसरत खाँ न उस समय तो कान्हड़ देव से कोई सघर्ष नही किया और सना को मेवाड़ होकर गुजरात ले गए किन्तु गुजरात विजय व सामनाथ मन्दिर को तोड़ने के बाद जब तक सेना वापस लौटते समय जालोर होकर गुजरी तो सना म लूट के सामान के बंटवार पर मगोल सनिको का असन्तोष व्याप्त था, अत कान्हड़ देव की सना न तुर्क सना पर आक्रमण कर उसे दिल्ली भाग जान पर विवश किया।[1] यह *घटना अलाउद्दीन खिलजी के लिए अपमानजनक थी।*

डा गोपीनाथ शर्मा क अनुसार— इस अभियान म लज्जित अलाउद्दीन ने जालौर की उपेक्षा की और अपना पूरा ध्यान रणथम्भोर और चित्तौड़ विजय म लगा दिया। इन विजयो म सुल्तान के हौसले बढ़ गए। उसके लिए अब उपयुक्त समय था कि वह जालौर की शक्ति को भी कुचल दे।[2]

अलाउद्दीन का जालौर पर आक्रमण

1305 ई म सुल्तान अलाउद्दीन ने अपने सेनानायक एन उल मुल्क' मुल्तानी के नेतृत्व म एक सेना जालौर भेजी। डा गुप्ता व डा ओझा का कथन है कि— तब किसी प्रकार का युद्ध नहीं हुआ और वह कान्हड़ देव को समझा बुझाकर दिल्ली ले आया। दिल्ली दरबार का वातावरण कान्हड़ देव क स्वाभिमान

1 कान्हड़दे-प्रबन्ध खण्ड-1 पद्य 32-33 व 220-221
तथा डॉ लाल खिलजी वंश का इतिहास p 114

2 पूर्वोक्त p 184

के विरुद्ध था और एक दिन फरिश्ता के अनुसार सुल्तान ने स्पष्टतः हिन्दू शासकों की शक्ति को चुनौती दी जिसे कान्हड़ देव सहन न कर सका और सुल्तान के विरुद्ध लड़ने हेतु जालोर आकर युद्ध की तैयारी में लग गया।'[1] डॉ दशरथ शर्मा ने इस मत की पुष्टि की है। इस सन्दर्भ में 'कान्हड़दे प्रबन्ध' में कान्हड़ देव के पुत्र वीरम तथा अलाउद्दीन की शाहजादी फिरोजा के प्रेम की कथा उल्लेखनीय है। कान्हड़ देव का पुत्र वीरम जब अलाउद्दीन के दरबार में रहता था अलाउद्दीन के हरम की एक राजकुमारी फिरोजा उससे प्रेम करने लगी। सुल्तान के डराने धमकाने पर भी जब फिरोजा अपने निश्चय पर दृढ़ रही तो सुल्तान ने वीरम को फिरोजा से विवाह हेतु विवश किया किन्तु वीरम एक तुर्क कन्या से विवाह करना अधार्मिक मान कर जालोर लौट गया। इस अपमान से क्षुब्ध हो सुल्तान ने जालोर पर आक्रमण किया किन्तु सफलता न मिलने पर शाहजादी फिरोजा स्वयं जालोर गई। कान्हड़ देव ने अपने पुत्र से उसके विवाह से इन्कार कर देने पर फिरोजा दिल्ली लौट गई और कुछ वर्षों बाद अपनी धाय गुनवहिश्त को जालोर पर आक्रमण कर वीरम को मार कर उसका सिर लाने का आदेश दिया। राजपूत सेना पराजित हुई व वीरम का सिर काट कर दिल्ली लाया गया। राजकुमारी उस सिर के साथ सती होना चाहती थी किन्तु उसका दाह संस्कार कर यमुना में कूद कर आत्महत्या कर ली।[2] नैणसी ने इस कथा का उल्लेख किया है।[3] फरिश्ता ने भी इसकी पुष्टि की है।[4]

डॉ लाल ने कान्हड़ देव व उसके पुत्र की उपरोक्त कथाओं को अविश्वसनीय माना है।[5] किन्तु डॉ गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि—'कम से कम ऐसी घटनाएँ सन्देहात्मक बताई जा सकती हैं परन्तु इनको अमान्य ठहराना ठीक नहीं। 1299ई के आक्रमण और 1311 ई के आक्रमण के समय के बीच एक लम्बी अवधि इन कथाओं की मान्यता को कुछ बल देती है। अलाउद्दीन इस लम्बे काल तक जालोर के सम्बन्ध में उपेक्षित रहे ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि इन आक्रमणों में उसे सफलता नहीं मिली इसी से फारसी तवारीखों में उन घटनाओं को स्थान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त कान्हड़दे प्रबन्ध में दी गई कथा या फरिश्ता द्वारा उद्धृत की गई हो ऐसा तो नहीं दीख पड़ता परन्तु दोनों में दी गई कथा का आधार एक प्राचीन परम्परा अवश्य है। इसी स्थिति में कथा के कतिपय अंशों को निरा कपोल-कल्पित नहीं ठहराया जा सकता।'[6]

जालोर पर आक्रमण के पूर्व अलाउद्दीन खिलजी ने सिवाना दुर्ग को 1308ई में विजित किया। 1305ई में जालोर पर प्रथम आक्रमण तथा 1311ई में अंतिम आक्रमण के बीच की अवधि में कान्हड़ देव का युद्ध की तैयारी न कर

1 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण p 33
2 कान्हड़दे-प्रबन्ध खण्ड 4 पद्य 326–29
3 नैणसी री ख्यात p 153–55
4 तारीख फरिश्ता Journal of Indian History p 369–78
5 डॉ लाल खिलजी वंश का इतिहास p 114 15
6 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 186

पाने के लिए दोषी ठहराते हुए डा वी एम भार्गव ने कहा है कि— 'वास्तव में यह कान्हड देव की ऐसी भूल थी कि जिसके लिए उसे क्षमा नहीं किया जा सकता था। 1305 ई में अलाउद्दीन की सेनाएँ सल्तनत के आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं से युद्ध करते हुए उकता चुकी थी जबकि कान्हड देव को 5 वर्ष का समय मिल चुका था। यदि उस समय वह ऐनउलमुल्क के मनाने में नहीं आता तो आक्रमणकारियों को पराजित करके जालौर तथा सिवाना को भावी विनाश से बचा सकता था।[1] यह कथन कान्हड देव में कूटनीतिक बुद्धि का अभाव प्रकट करता है।

जालौर पर 1311 ई में तुर्की-आक्रमण—सिवाना दुर्ग को विजित करने के पश्चात् अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली लौट गया किन्तु उसकी सेना को जालौर पर आक्रमण हेतु जाने का आदेश हुआ। मार्ग में इस सेना ने बाडमेर का घेरा व सांचौर के महावीर के मन्दिर को नष्ट भ्रष्ट किया। भीनमाल में चौहानकालीन शिक्षा केन्द्र को भी नष्ट किया। इससे कान्हड देव बडा चिन्तित हुआ और उसने पडौसी राजपूतों को सहायतार्थ आमन्त्रित किया। रेवती व धारोमा के मार्ग में आने वाले राजपूतों ने खण्डाला में तुर्क सेना का प्रतिरोध किया व भगाया। जब राजपूत वीर जेता व देवा शत्रुओं के नक्कारे छीन कर जालौर कान्हड देव को अपनी विजय की सूचना देने आ रहे थे तो शत्रु सेनापति मलिक नाइब भागती तुर्क सेना को संगठित कर जालौर को लेने हेतु 7 दिन तक जूझता रहा किन्तु कान्हड देव के पुत्र वीरम देव व मालदेव ने उस भडता के मार्ग तक खदेड दिया तथा तुर्क सेनापति शम्स खाँ उसकी पत्नी व साथी बन्दी बना लिये।

इस पराजय के बाद तुर्क सेनापति कमालुद्दीन गुर्ग ने सेना को संगठित कर पुनः जालौर पर आक्रमण किया किन्तु कान्हड देव व उसके पुत्रों ने बडी वीरता से उसका सामना किया। दुर्ग में पानी व रसद की कमी हो गई थी। तुर्क सेनापति ने धोखे से दुर्ग अधिकृत करने का प्रयास किया। एक दहिया राजपूत बीका (जो जालौर का शासक बनने की महत्वाकांक्षा रखता था) को तुर्कों ने अपनी ओर मिला लिया जिसने तुर्क सेना को एक अरक्षित मार्ग से दुर्ग में प्रवेश करा दिया। बीका की वीर व स्वामिभक्त पत्नी को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने अपने पति को मार कर उसके विश्वासघात की सूचना कान्हड देव को दी किन्तु शत्रु किले में प्रवेश कर चुके थे। सभी राजपूत वीर अपने स्वामी कान्हड देव के नेतृत्व में उसके साथ ही किले की रक्षार्थ लडते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।[3] डा दशरथ शर्मा ने इस तथ्य की पुष्टि की है।[4]

डा गोपीनाथ शर्मा ने तुर्क आक्रमण के राजपूतों द्वारा इस प्रतिरोध का वर्णन करते हुए कहा है कि— फिर भी राजपूतों ने हिम्मत न हारी। कान्हड देव

1 डॉ वी एम भार्गव राजस्थान का इतिहास p 105
2 कान्हडदे प्रबंध खण्ड–3 p 73–185
3 वही खण्ड–4 p 115–250
4 *Dr Dasharath Sharma* Early Chauhan Dynasties p 168 69

के पुत्र वीरम देव ने बची हुई शक्ति का संगठन कर युद्ध को जारी रखा। थोड़े से मुट्ठी भर राजपूत रसद की कमी हो जाने तथा शत्रुओं के किले में घुस आने से युद्ध को अधिक समय न चला सके। वीरम देव ने यह समझकर कि उसे शत्रु मार देंगे या बन्दी बना लेंगे, स्वयं अपने पेट में कटार भोंक ली और मृत्यु की गोद में जा बैठा। इसी अवधि में राजपूत महिलाओं ने जौहर कर अपने सतीत्व की रक्षा की तथा अन्य किले के निवासी भी अपनी अन्तिम सांस तक शत्रुओं से लड़ कर काम आए। इस प्रकार रक्तपात के उपरान्त किला खिलजियों के हाथ लगा। इस विजय की स्मृति में सुल्तान ने एक मस्जिद का निर्माण करवाया जो अभी भी वहाँ विद्यमान है। कान्हड़ देव का भाई मालदेव जालोर के पतन के पश्चात् किसी प्रकार भीषण संहार से बच निकला। बाद में उसने सुल्तान की सद्भावना अर्जित कर ली जिससे उसने उसे चित्तौड़ के कार्यभार को सम्भालने के लिए नियुक्त किया।'[1] यह जालोर दुर्ग पर तुर्क विजय 1311 ई. में हुई।

कान्हड़ देव का मूल्यांकन—डॉ. दशरथ शर्मा के शब्दों में— "इस घटना ने चौहानों के अन्तिम प्रतिनिधित्व करने वाले वीर कान्हड़देव का अन्त कर दिया। वह दृढ़ चरित्र का व्यक्ति था। सेनापति के रूप में वह अपने हिन्दू समकालीन वीर सामन्तों से किसी प्रकार कम न था। कान्हड़ देव एक वीर, साहसी व धर्मनिष्ठ शासक था जो राजपूत शौर्य का प्रतिनिधित्व करता था। उसकी असफलता उसकी व्यक्तिगत दुर्बलता न होकर तत्कालीन समाज की दुर्बलता थी। वह अपने ढंग का महान् व्यक्ति था किन्तु वह और भी महानतर व्यक्ति सिद्ध होता यदि वह रणथम्भोर, मालवा व गुजरात से संयुक्त होकर अपनी स्वतन्त्रता तथा शेष भारत की स्वाधीनता की रक्षा कर पाता।"[2]

---

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, p. 190
2 *Dr. Dashrath Sharma* : Early Chauhan Dynasties, p. 70

3

मेवाड का एक प्रादेशिक शक्ति के रूप में उदय—मालवा व गुजरात से अन्तर-प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता-मारवाड व हाडौती से अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता—कुम्भा व साँगा की भूमिका

(Rise of Mewar into a Regional Power—Inter-regional Rivalry with Malwa & Gujrat–Inter-regional Rivalry with Marwar & Harouti–Role of Kumbha & Sanga)

मेवाड का एक प्रादेशिक शक्ति के रूप मे उदय
(Rise of Mewar into a Regional Power)

पिछले अध्याय म अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड विजय क सन्दभ म बतलाया जा चुका है कि तुर्कों के आक्रमण ने गुहिलवशी राजपूतो की रावल शाखा के शासन का अन्त हो गया था किन्तु गुहिला की सीसोदिया शाखा क वीर सामन्त हम्मीर न 1326 ई के लगभग चित्तौड पर पुन अधिकार कर मेवाड का एक स्वतन्त्र राज्य के रूप म प्रतिष्ठित किया। राणा हम्मीर ने अपनी राज्य सीमा का भी विस्तार किया। मेवाड की यह विस्तारवादी नीति का चरमोत्कर्ष हम्मीर क वशज कुम्भा व साँगा के समय हुआ जिससे मेवाड एक प्रादेशिक शक्ति के रूप मे उदित हुआ।

डा गोपीनाथ शर्मा ने मेवाड़ के शक्ति सम्पन्न बनने का वर्णन करते हुए कहा है कि—' रतनसिंह के चित्तौड़ के घेरे के समय काम में आ जाने से समूची रावल शाखा की भी समाप्ति हो गई। इस अवसर पर सीसोदे के सरदार लक्ष्मणसिंह ने भी अपने पुत्रों सहित अपनी जान की बाजी लगा दी। एक प्रकार से यह मेवाड़ के सर्वनाश का काल था। शाके के समय असंख्य अबलाएं बाल और बूढ़े राख के ढेरों में विलीन हो गए थे। लम्बे घेरे के फलस्वरूप जन जीवन अस्त व्यस्त हो गया था। मेवाड़ में जन और धन की इतनी हानि हुई थी कि जिसका अनुमान लगाना कठिन है। पहले तो तुर्कों का बोलबाला चित्तौड़ और आसपास के भागों पर आरम्भ हो गया और पीछे से मालदेव का चित्तौड़ की सत्ता मिलने पर चौहानों का प्रावल्य चारों ओर बढ़ने लगा। गोडवाड़ का इलाका भी चौहानों के कब्जे में आ गया। इस दयनीय स्थिति से उभारने का श्रेय हम्मीर को है जो सीसोदे का सरदार था और अरिसिंह का उत्तराधिकारी था। उसने मेवाड़ के उद्धार का बीड़ा उठाया जिसमें उसे सफलता मिली। उसके द्वारा स्थापित परम्परा उसके उत्तराधिकारी चलाते रहे। इस परम्परा का विस्तृत रूप हम हम्मीर के चौथे वंशज कुम्भा के समय में पाते हैं जिसके समय में मेवाड़ राज्य का विस्तार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है।'[1]

हम्मीर एवं उसके उत्तराधिकारियों द्वारा मेवाड़ को प्रादेशिक शक्ति के रूप में उभारने हेतु योगदान

(1) हम्मीर (1326–1364 ई.)–1326ई. में हम्मीर ने न केवल मेवाड़ का एक छोटी जागीर सीसोदा का स्वामी होते हुए भी चित्तौड़ पर पुनः अधिकार जमा कर उसे स्वतन्त्र राज्य बनाया अपितु उसने पड़ोसी राज्यों को परास्त कर अथवा उनसे मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर अपनी राज्य सीमा एवं प्रभाव क्षेत्र का विस्तार किया। कर्नल टाड के शब्दों में— हम्मीर अपने समय का प्रबल हिन्दू राजा था जिसके अधीन मारवाड़, जयपुर, बूंदी, ग्वालियर, चन्देरी, रायसीन, सीकर, कालपी व आबू के शासक थे।[2] डा गोपीनाथ शर्मा ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि—"यह कथन अतिशयोक्ति रहित नहीं है क्योंकि बूंदी और ईडर के आगे बाहरी शासकों पर उसका कितना अधिकार था यह संदेहास्पद है। अलबत्ता उसने अपने शौर्य से एक शक्तिशाली शासक का स्थान अवश्य प्राप्त कर लिया था और मेवाड़ की सीमाओं का विस्तारित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। उपरोक्त शासकों ने उसके राजनीतिक प्रभाव को मान्यता दी हो तो कोई आश्चर्य नहीं।[3]

(2) क्षेत्रसिंह (1364–1382 ई.)—हम्मीर के बाद उसका पुत्र मेवाड़ राज्य का राणा बना। कुम्भलगढ़ शिलालेख से प्रकट होता है कि— उसने अपने

1 3 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 217 व 218
2 *Col Tod* Annals & Antiquities of Rajasthan p 319-20

बल व पुरुषार्थ से अजमेर, जहाजपुर, माण्डल और छप्पन को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया। मालवा के शासक दिलावर खाँ गोरी को पराजित कर भावी मालवा मेवाड़ संघर्ष का सूत्रपात किया। हाड़ौती के हाड़ाओं को दबाने का श्रेय भी उसी को है।"[1] गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।[2]

(3) लक्ष सिंह (लाखा) (1382–1421 ई.)—एकलिंग व चित्तौड़ के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि राणा लाखा ने बदनौर को विजित कर राज्य सीमा में वृद्धि की, डोडिया राजपूतों को तरनगढ़ ने दराय व ममूदा की जागीर देकर अपना उमराव बनाया तथा जावर की चाँदी की खान में उसने अनेक किला व पिछोला झील का निर्माण कराया। उसने संस्कृत के विद्वानों झोटिंग भट्ट व धनेश्वर भट्ट को राज्याश्रय दिया।

कर्नल टाड व ओझा ने लाखा के समय की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है जिससे मेवाड़ मारवाड़ के सम्बन्धों एवं उसके परिणामों पर प्रकाश पड़ता है। मण्डोर (मारवाड़) के राठौड़ नरेश रणमल ने लाखा के पुत्र चूड़ा के लिए अपनी बहिन हंसाबाई से विवाह हेतु नारियल भेजा किन्तु लाखा के परिहास के परिणामस्वरूप हंसाबाई का विवाह लाखा से इस शर्त पर हुआ कि उसकी सन्तान का मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार होगा। कुंवर चूड़ा ने इस शर्त के लिए अपनी सहमति दी। हंसाबाई से मोकल नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आगे चलकर मेवाड़ का शासक बना।

(4) मोकल (1421–1433 ई.)—लाखा की मृत्यु के समय मोकल की आयु 12 वर्ष की थी अतः उसके चाचा चूंडा ने संरक्षक के रूप में राज्य कार्य किया। चूड़ा पर हंसाबाई का सन्देह होने पर चूड़ा मेवाड़ छोड़कर माण्डू (मालवा) के शासक के यहाँ रहने लगा। हंसाबाई ने अपने भाई रणमल को बुला कर राज्य कार्य उसके हाथों में सौंप दिया। रणमल ने अनेक राठौड़ों को मेवाड़ के उच्च पदों पर नियुक्त किया। अपने पिता चूड़ा की मृत्यु के बाद रणमल मण्डोर का शासक भी बन गया किन्तु मेवाड़ में ही रहकर अपना प्रभाव बढ़ाता रहा।

मोकल ने भी विस्तारवादी नीति का अवलम्बन कर नागौर के शासक फिरोज खाँ को रामपुरा युद्ध में पराजित किया जालौर व साँभर प्रदेश को पदाक्रान्त किया गुजरात के शासक अहमदशाह को पराजित किया जहाजपुर के दुर्ग को विजित किया तथा बूंदी के हाड़ाओं को पराजित किया। मोकल के इस विजय अभियान की पुष्टि मोकल व कुम्भलगढ़ के शिलालेखों से होती है। चित्तौड़ के समाधिश्वर मंदिर के जीर्णोद्धार व एकलिंग के मंदिर का परकोटा बना कर उसने निर्माण कार्य भी कराया तथा उसके दरबार में अनेक शिल्पी व विद्वान् ब्राह्मण आश्रय में रहते थे। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— मोकल ने अपनी विजयों में

1 कुम्भलगढ़ शिलालेख श्लोक 198–202

2 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग 1 p 243 259

ही मेवाड को एक शक्तिशाली राज्य नहीं बनाया वरन् अपने विद्या तथा कला प्रेम से भी उस बौद्धिक तथा कलात्मक प्रवृत्तियों का केन्द्र स्थापित किया ।"[1]

मोकल की मृत्यु परस्पर वैमनस्य के कारण बड़े दुखद रूप से हुई। डॉ ओझा का कथन है कि 'जब महाराणा जीलवाड़ा के भाग में गुजरात के सुल्तान अहमदशाह के आक्रमणों को रोकने के लिए डटा हुआ था कि महाराणा खेता (क्षेत्रसिंह) की उप पत्नी (खाती जाति की रखैल स्त्री) के पुत्र, चाचा व मेरा ने अवसर पाकर उसकी हत्या कर दी। इस हत्या के कराने के पक्ष में महपा पवार आदि कई सरदार भी सम्मिलित थे।"[2] डा गोपीनाथ शर्मा ने मोकल का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि वास्तव में मोकल अपने समय का अच्छा शासक था जिसने राजनीतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्नति कर भावी शासक कुम्भा के मार्ग को प्रशस्त बना दिया। [3]

इस प्रकार राणा हम्मीर व उसके उत्तराधिकारियों ने मेवाड़ राज्य के एक प्रादेशिक शक्ति के उदय में अपनी विस्तारवादी एवं साम्राज्यवादी नीति अपना कर उल्लेखनीय योगदान किया जिससे मेवाड़ राज्य की शक्ति को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाने वाले भावी शासकों—कुम्भा व सांगा का मार्ग प्रशस्त हुआ। इन पूर्ववर्ती राणा शासकों की नीति के कारण मेवाड़ को कठिनाइयों एवं अन्तर एवं अन्त-प्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता का सूत्रपात भी हुआ जिनमें मेवाड़ के गृह कलह एवं विद्रोहियों की गतिविधियां तथा गुजरात मालवा हाड़ौती एवं मारवाड़ से प्रतिद्वंद्विता प्रमुख है। मेवाड़ के एक शक्तिशाली राज्य के रूप में उदय होने में दिल्ली के निबल सुल्तानों—अलाउद्दीन खिलजी के उत्तराधिकारियों एवं सैयद व तुगलक वंश के शासकों का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। महाराणा कुम्भा एवं महाराणा सांगा का विस्तृत विवरण देना इस क्रम में वांछनीय है।

महाराणा कुम्भा (1433–1468 ई)
(Maharana Kumbha)

प्रारम्भिक जीवन

कुम्भा (कुम्भकरण) महाराणा मोकल के पुत्र थे। उनकी माता परमार वंशी सौभाग्य देवी थी। उनका जन्म 1403 ई में हुआ था तथा मोकल की हत्या के बाद 15 वर्ष की आयु में 1433 ई में उनका राज्यारोहण हुआ था। उनके 6 भाई—क्षेमकरण, शिवा, सत्ता नाथसिंह, वीरमदेव और राजधर थे तथा एक बहिन लालबाई थी। मोकल की हत्या के बाद कुम्भा का मामा राव रणमल चित्तौड़ आ गया और संरक्षक के रूप में राज्य कार्य करने लगा। रणमल ने प्रतिज्ञा की कि वह मोकल के हत्यारों तथा चूडा को नष्ट करके चैन लेगा। इससे मेवाड़

1, 3 पूर्वोक्त p 221
2 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 p 275-77

म राठौड व सीसोदिया सामन्ता के मध्य न गृह कलह को ज म दिया जिससे कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइया म वृद्धि हुई एव उन पर विजय प्राप्त करन हेतु वह चिन्तित रहा। कुम्भा ने अपन विजय अभियाना एव कला व सस्कृति की रक्षाथ किए गए कार्यों स मवाड को एक प्रादेशिक शक्ति के रूप म चरमोत्कष पर पहुँचाया।

कीर्ति स्तम्भ एव कुम्भलगढ प्रशस्तिया स उसके द्वारा धारण किए गए अनेक विरुदो व उपाधिया तथा चारित्रिक विशषताओ का पता चलता है। डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि सम्पूण गुहिलवशी शासका म कुम्भा या कुम्भकण ही एक ऐसा शासक था जा अनक गुणा और विशषताओ क प्रतीक विरुदो से विख्यात था। [1] इन विरुदो म राचराय राणेराय, दानगुरु परमगुरु चापगुरु अभिनव भरताचाय हिन्दू सुरताण आदि प्रमुख थ। कुम्भा क विषय म कुछ अभिलखो व ख्याता स नात होता है कि उसके 1600 रानियाँ थी किन्तु इस तथ्य को अतिशयोक्ति मान कर सोमानी अस्वीकार करत हुए कहत है कि कुम्भा के महलो म इतन कक्ष नही थे कि जिनम 1600 रानियाँ अपनी सविकाओ सहित रह सकें। [2] वस्तुत कुम्भा द्वारा निर्मित साधारण महल भी इस मत की पुष्टि करत हैं। अभिलेखा म वर्णित यह तथ्य तो सत्य हो सकता है कि वह सुन्दर तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व का था किन्तु राजरत्नाकर के अनुसार यह तथ्य कि वह प्रतिदिन महान् सुन्दर कन्या स विवाह करता था असत्य है। बी एम दिवाकर का कथन है कि यह कहना भी सत्य नही है कि कई राज कन्याओ न स्वय उस वर मान लिया था। इस समय स्वयवर नही होत थ अत इसकी सम्भावना नही हो सकती। [3]

कुम्भा की मृत्यु दुखद परिस्थितियो म हुई। श्यामलदास के अनुसार 'कुम्भा के 11 पुत्र थ जिनम सबस बडा लडका उदयसिंह था। उसी न अन्त म एक दिन जब महाराणा कुम्भलमेर के किले म मालदव के मन्दिर के पास एक कुण्ड पर बठे थ तो उदयसिंह न पीछ स आकर उन का काम तमाम कर दिया। [4] यह घटना 1468 ई म हुई।

कुम्भा की प्रारम्भिक कठिनाइया एव उन पर विजय

बी एम दिवाकर का कथन है कि गद्दी पर बठत ही उस (कुम्भा को) अनक कठिनाइयो का सामना करना पडा। भाइयो का विरोध चाचा चूडा का विरोध पिता की हत्या का बदला मुसलमान सुल्ताना क आक्रमणो स चित्तौड की रक्षा आदि अनक काय थे जो कुम्भा क युवक कधो पर आ बठ। गद्दी पर

1 पूर्वोद्धृत पृ 221
2 रामवल्लभ सोमानी महाराणा कुम्भा p 39
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 95
4 श्यामलदास वीर विनोद p 317

बैठते ही चाचा का विरोध और भाई का विरोध और अन्त में पुत्र का विरोध। ये आन्तरिक विरोध मेवाड़ के विकास में काफी बाधक रहे।[1] डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में 'जब महाराणा कुम्भा मेवाड का स्वामी बना तो उसने पाया कि उसे पिता तथा प्रपितामह के समय की कई समस्याओं का हल करना है। बिना उन समस्याओं के हल किए उसके लिए सम्भव नहीं था कि वह अपने राज्य का विस्तार कर सके या उसके राजत्व काल में ऐसी स्थिति पैदा कर सके जो साहित्य और कला की उन्नति में सहयोगी हो। इसलिए उसने सबसे पहले ऐसे सामन्तों की समस्या को हाथ में लिया जो दशकोंटी थे और जिन्होंने अपनी पद और प्रतिष्ठा का दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया था।[2] अत सर्वप्रथम कुम्भा ने अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने हेतु निम्नांकित उपाय किए—

(i) चाचा और मेरा से प्रतिशोध—चाचा और मेरा कुम्भा के प्रपितामह खेत (क्षेत्रसिंह) की उप पत्नी के पुत्र थे जिन्होंने कुछ सामन्तों, जिनका नेतृत्व महपा पवार कर रहा था को मिला कर षडयन्त्र कर मोकल की हत्या कर दी थी। हत्या का कारण कुछ अभिलेखों जैसे कीर्ति स्तम्भ अभिलेख द्वारा प्रकट होता है। चाचा और मेरा इतने शक्तिशाली हो गए थे कि एक समय जब मोकल ने इनसे जंगल में प्रसगवश किसी वृक्ष का नाम पूछ लिया तो वे इसे ताना समझ गए क्योंकि इनकी माता खातिन थी। इस अपमान का बदला लेने के लिए उन्होंने मोकल को मार दिया।[3] महाराणा कुम्भा ने चाचा व मेरा को दण्डित करने हेतु दक्षिण के पाई पहाड़ों में छिपे हुए इन पर आक्रमण हेतु सेना भेजी तथा वहाँ के भीलों को अपनी ओर मिला कर चाचा व मेरा की हत्या करवा दी। चाचा का पुत्र एक्का व महपा पंवार डर कर माण्डू के सुलतान की शरण में पहुँच गए और सुल्तान का कुम्भा के विरुद्ध भड़काने के अतिरिक्त वे कुछ न कर सके। ओझा का कथन है कि—'इस प्रकार तीन पीढ़ियों से बनी हुई समस्या को कुम्भा ने अपनी सूझबूझ से समाप्त कर दिया।[4]

(ii) राव रणमल के प्रभाव की समाप्ति—कुम्भा के पितामह लाखा ने वृद्धावस्था में राठौड रणमल की बहन हंसाबाई से विवाह कर मेवाड के लिए कठिनाई पैदा कर दी थी। जब हंसाबाई का पुत्र अर्थात् कुम्भा के पिता मोकल का संरक्षक बनकर सलूंबर के रावत चूडा ने अत्यन्त स्वामिभक्ति से राज्य कार्य चलाया किन्तु हंसाबाई के सन्देह करने उसके भाई अज्जा को मेवाड छोड़कर माण्डू चले जाने पर विवश करने तथा उसके अन्य भाई राघवदेव (जो सीसोदिया सामन्तों का नेता था) को षडयन्त्र द्वारा मरवा देने पर चूडा मेवाड़ छोड़कर माण्डू के सुल्तान के पास रहने लगे। हंसाबाई ने अपने भाई राठौड रणमल को चित्तौड बुला कर

1 डी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 95
2-3 पूर्वोक्त p 222
4 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग-1 p 265

मेवाड का राज्य कार्य उसे सौंप दिया। एक्का और महपा पँवार भी माण्डू से आकर क्षमा याचना के बाद मेवाड में रहने लगे। रणमल की स्वच्छाचारिता से कुपित होकर तथा मेवाड के सीसोदिया सामन्तों ने चूडा व अज्जा को मेवाड बुला कर रणमल के विरुद्ध षड्यन्त्र किया। इन्होंने रणमल की प्रेयसी दासी भारमली को अपनी ओर मिला कर 1438 ई में रणमल की हत्या करवा दी। यह कार्य भी कुम्भा की कूटनीति से ही सम्भव हो सका। डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—'महाराणा ने रणमल का प्रकट रूप से तो कोई विरोध नहीं किया। बिना कुम्भा की आज्ञा के चूडा और अज्जा का मेवाड में लौटना सम्भव नहीं था। यह सभी कार्यवाही महाराणा की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप थी। दो पीढियों से राठौड़ों का प्राबल्य जो मेवाड राज्य में बढ़ता जा रहा था उसे समाप्त करने का श्रेय कुम्भा की कूटनीति को है।'[1]

रणमल की मृत्यु पर टिप्पणी करते हुए सामानी का मत है कि— रणमल की मृत्यु राघवदेव की मृत्यु का बदला मात्र प्रतीत होता है।[2] बी एम दिवाकर ने रणमल की मृत्यु से उत्पन्न समस्या का उल्लेख इस प्रकार किया है— 'रणमल दोषी था या नहीं किन्तु उसकी मृत्यु ने राठौडा और सीसोदिया के दीर्घकाल से चले आ रहे अच्छे सम्बन्धों को समाप्त कर दिया। राठौडों को जोधपुर पर अधिकार करने में अगले 15–16 वर्ष तक संघर्ष करना पड़ा।'[3] किन्तु डॉ गोपीनाथ शर्मा की दृष्टि से यह कृत्य मेवाड की भावी योजनाओं के लिए आवश्यक था— पाँच वर्ष की अवधि में ही चाचा मेरा तथा रणमल के कारण पैदा किए जाने वाली समस्याओं का हल कर महाराणा ने अपने घरेलू बखेडों का इतिश्री कर दी और भविष्य में किए जाने वाली योजनाओं के लिए मार्ग सुगम बना दिया। कम से कम इन नाना समस्याओं के निपटने से महाराणा को अपने राज्य में संगठित शक्ति बनाने का अवसर मिल गया।[4]

इस प्रकार कुम्भा प्रारम्भिक कठिनाइयों में घरेलू समस्याओं के समाधान में सफल रहा। अन्य कठिनाइयों—अधीन राज्यों की पुनः स्वाधीनता के प्रयास तथा पडोसी राज्यों—मालवा व गुजरात के आक्रमणों से मेवाड की रक्षा करने को उसने किस प्रकार हल किया इसका विवरण अन्तर व अन्तःप्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता के शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

मालवा व गुजरात से अन्तर प्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता
(Inter Regional Rivalry with Malwa and Gujrat)

मेवाड़—मालवा प्रतिद्वंद्विता

प्रतिद्वंद्विता के कारण—मेवाड और मालवा के सुल्तान के मध्य प्रतिद्वंद्विता व संघर्ष के प्रमुख कारण अग्रांकित हैं—

1 4 पर्वोद्धृत p 224
2 रामवल्लभ सामानी महाराणा कुम्भा, पृ 95
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, प 102

(i) केन्द्रीय शक्ति की दुर्बलता—अलाउद्दीन खिलजी के बाद उसके उत्तराधिकारी सय्यद वंश तथा तुगलक वंश के सुल्तान अलाउद्दीन द्वारा विजित प्रदेशों को अपने अधिकार में न रख सके। धीरे धीरे प्रान्तीय शासक केन्द्रीय अधिकार से मुक्त हो स्वतन्त्र सत्ता के रूप में अस्तित्व में आ गये थे जो अपनी विस्तारवादी नीति के कारण परस्पर संघर्षरत रहने लगे। मालवा, गुजरात व मेवाड भी इसके अपवाद न थे। डा आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने कहा है कि—'दिल्ली सल्तनत तजी से लड़खड़ा रही थी अत इस तुर्क विजेता (तैमूर) को उनकी दुर्बलता का लाभ उठाकर महत्त्वाकांक्षा पूरी करने का अवसर मिल गया।[1] डा वी एस भार्गव के शब्दों में—मालवा का शासक महमूद के नियन्त्रण से मुक्त होकर अपने राज्य का विस्तार करने लगा और दूसरी ओर महाराणा कुम्भा को भी उपयुक्त अवसर मिल गया कि वह पडौसी राज्यों पर विजय प्राप्त करके मेवाड साम्राज्य को सुदृढ बना ले। वास्तव में कमजोर दिल्ली ने इन दोनों महत्त्वाकांक्षी शासकों को खुला छूट दे दी। यदि तैमूर का आक्रमण और फलस्वरूप दिल्ली सल्तनत का पतन नहीं होता तो सम्भवत ये दो साँड (कुम्भा और महमूद) कभी नहीं टकरा पाते।[2]

(ii) विस्तारवादी नीति—मेवाड व मालवा के शासकों की सीमा विस्तार की महत्त्वाकांक्षा ने उन्हें परस्पर संघर्ष हेतु विवश कर दिया।

(iii) सीमावर्ती राज्यों की अस्थिर निष्ठाएँ—मेवाड व मालवा के सीमाओं पर स्थित छोटे राज्य जैसे माण्डलगढ, जहाजपुर, छिजालिया, नागौर, बन्नौर डूंगरपुर आदि छोटे राज्यों की निष्ठाएँ मालवा व मेवाड के प्रति अस्थिर थी व बदलती रहती थी। अत मेवाड व मालवा उन्हें हस्तगत करना चाहते थे। इनके आन्तरिक झगडों में हस्तक्षेप कर मालवा व मेवाड के शासक परस्पर संघर्ष करते रहे।

(iv) मेवाड के असन्तुष्ट व विद्रोही सरदारों को मालवा में शरण देना—मेवाड के असन्तुष्ट सरदार चाचा मेरा महपा पँवार चूडा आदि ने मालवा के सुल्तान के यहाँ शरण लेकर उसे मेवाड के विरुद्ध भडकाते रहे।

(v) मालवा के उत्तराधिकार के संघर्ष में मेवाड का हस्तक्षेप—जब मालवा के सुल्तान होशंगशाह की मृत्यु हुई तो उत्तराधिकार के प्रत्याशी उमर खाँ की कुम्भा ने सहायता की जिससे मालवा के मन्त्री महमूद खिलजी ने वहाँ का शासक बन कुम्भा से संघर्ष किया।

मालवा मेवाड संघर्ष

उपरोक्त कारणों से उत्प्रेरित होकर राणा कुम्भा व मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी के मध्य संघर्ष हुआ। इनमें से प्रमुख संघर्ष अग्राङ्कित उल्लेखनीय हैं—

1 डॉ आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव दिल्ली सल्तनत
2 डा वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास, p 251

(i) 1437ई मे सारगपुर का युद्ध—मेवाड के विद्रोही सरदार महपा पँवार को वापस भेजने की जब राणा कुम्भा ने महमूद खिलजी से माँग की तो सुल्तान ने उसे अस्वीकार कर दिया। अत कुम्भा म दसौर, जावरा आदि स्थानो को जीतता हुआ सारगपुर पहुचा जहाँ महमूद खिलजी से युद्ध हुआ जिसमे सुल्तान की हार हुई और वह बन्दी बनाकर चित्तौड मे 6 माह तक रखा गया किन्तु उसे बिना दण्डित किए मुक्त कर दिया गया। नणसी री ख्यात व वीर विनोद' से इसकी पुष्टि होती है। टाड ने सुल्तान को छोड देना महाराणा की राजनीतिक अदूरदर्शिता बताया है। इसकी पुष्टि ओझा व हरविलास शारदा ने की है।[1] किन्तु डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— महाराणा ने बडी गहराई से सोचा था और इसीलिए महमूद को मुक्त कर कुछ समय के लिए वह मालवा की ओर से शान्ति का अनुभव करना चाहता था। थोडा ही समय जो इस नीति से महाराणा को मिल गया वह पुन उसके सैनिक बल के सगठन के लिए पर्याप्त था। ऐसी स्थिति मे महाराणा की यह नीति उसकी उदारता और स्वाभिमान तथा दूरदर्शिता की परिचायिका है।

(ii) 1443 ई मे मालवा का मेवाड आक्रमण—अपनी पूर्व पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु महमूद ने कुम्भलगढ पर आक्रमण किया। 7 दिन के सघर्ष के बाद मेवाड का सेनापति दीपसिंह मारा गया। महमूद ने बाण माता के मन्दिर को नष्ट भ्रष्ट किया। इसके बाद महमूद ने चित्तौड को जीतना चाहा किन्तु उसे सफलता न मिली और वह माण्डू लौट गया। राणा ने उसका पीछा किया और उसे हानि पहुचाई।

(iii) 1446 ई मे महमूद का माण्डलगढ पर आक्रमण—इस आक्रमण मे राणा के प्रतिरोध के कारण महमूद को सफलता न मिली। दोनो मे सन्धि हुई और महमूद अजमेर की ओर बढ गया किन्तु लौटते समय उसने चित्तौड लेने का असफल प्रयत्न किया।

(iv) 1456ई मे महमूद का माण्डलगढ पर दूसरा आक्रमण—फरिश्ता के अनुसार इस आक्रमण को राणा ने सुल्तान को दस लाख टके देकर लौटा दिया।

(v) 1457 ई मे महमूद का माण्डलगढ पर तीसरा आक्रमण—इस आक्रमण मे महमूद को माण्डलगढ पर अधिकार करने मे सफलता मिली क्योकि कुम्भा गुजरात के *युद्ध मे व्यस्त था। किन्तु कुछ समय बाद राणा ने माण्डलगढ पुन* हस्तगत कर लिया।

(vi) 1459 ई मे महमूद का कुम्भलगढ पर आक्रमण—यह आक्रमण मालवा गुजरात ने सम्मिलित रूप से किया था किन्तु सफलता न मिली।

1 टाड राजस्थान भाग 1 p 335
ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 p 287
हरविलास शारदा महाराणा कुम्भा p 53-59
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 228

(vii) 1467 ई का आक्रमण—इस आक्रमण म महमूद जावर तक आया किंतु कुम्भा ने उसे भगा दिया।

उपरोक्त आक्रमणो म मुस्लिम इतिहासकारो विशेषत फरिश्ता ने कुम्भा की पराजय व उसके द्वारा महमूद को धन देकर विदा करन का उल्लख किया है।[1] किन्तु ओझा इसका खण्डन कर महमूद की कुम्भा स पराजय बतलाते हैं। डा गोपीनाथ शमा ने भी इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि— यह मानना कि महाराणा की पराजय होती रही और महमूद विजयी होता रहा ठीक नहीं है। यह उल्लेख महमूद के आक्रमणो के अभिप्राय और महाराणा की युद्ध शली पर प्रकाश डालता है। महमूद केवल मात्र इधर उधर लूट खसोट कर लौट जाता था और उस मवाड के सनिक केन्द्रो को लेन म सफलता नहा मिलती थी। इन अभियानो म मवाड की एक इच भूमि की भी हानि नही हुई। यह महाराणा के स य सगठन का प्रमाण है।[2] वस्तुत छापामार युद्ध नीति से कुम्भा महमूद को छकाने मे सफल रहा था।

मेवाड–गुजरात प्रतिद्वन्द्विता

कारण—मवाड गुजरात प्रतिद्वन्द्विता के कारण भी लगभग वही थ जो पूव म मवाड मालवा प्रतिद्वन्द्विता के थे। मवाड गुजरात सघष के तात्कालिक कारण का उल्लख करते हुए डा गुप्ता व डा ओझा का कथन है कि— नागौर के तत्कालीन शासक फिरोज खाँ की मृत्यु होने पर और उसके छोटे पुत्र मुजाहिद खाँ द्वारा नागौर पर अधिकार करने पर बडे लडके शम्स खाँ ने नागौर प्राप्त करन म कुम्भा स सहायता मांगी। मुजाहिद को वहां से हटाकर महाराणा न शम्स खाँ को गद्दी पर बिठाया किन्तु गद्दी पर बठने ही शम्स खा अपने सारे वायदे (राणा को कर देना व नागौर दुग की मरम्मत न करना) भूल गया और उसने सधि की शर्तों का उल्लघन शुरू कर दिया। स्थिति की गम्भीरता को समझ कर कुम्भा ने शम्स खाँ को नागौर स निकाल कर उस अपने अधिकार मे कर लिया। शम्स खा भाग कर गुजरात पहुँचा और अपनी लडकी की शादी सुल्तान (कुतबुद्दीन) से कर गुजरात से सनिक सहायता प्राप्त की और महाराणा की सेना के साथ युद्ध करने को बढा परन्तु विजय का सेहरा मेवाड के सिर पर बधा।[3] अत नागौर के प्रश्न को लेकर मवाड गुजरात का सघष हुआ।

मेवाड गुजरात सघष

(i) गुजरात के सुल्तान कुतबुद्दीन न उपरोक्त पराजय के बाद प्रतिशोध लेने हेतु 1456 ई म अपने सेनापति इमादलमुल्क को आबू भेजा तथा स्वय कुम्भलगढ पर आक्रमण हेतु गया। आबू म उसके सेनापति की हार हुई। कुतबुद्दीन ने

1 ब्रिग्स फरिश्ता, भाग 4, p 208–10
2 पूर्वोद्धत p 229
3 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण, p 48

मिराही जीत कर कुम्भलगढ का घेरा डाला किन्तु नागौर विजय के बाद लौट कर राणा ने कुतबुद्दीन का दृढ़ता से सामना किया। निराश होकर कुतबुद्दीन वापस लौट गया। मुस्लिम इतिहासकार फरिश्ता ने लिखा है कि राणा से बहुत से रुपये और रत्न मिलने पर सुल्तान गुजरात लौटा था।[1] तारीखे फरिश्ते व 'मिराते सिकन्दरी ग्रन्थों से पता चलता है कि कुतबुद्दीन का आक्रमण इतना भयंकर था कि अत्यधिक जन क्षति हुई तथा राणा द्वारा नागौर पर चढ़ाई न करने के आश्वासन तथा अच्छी रकम देने के बाद मेवाड़ को मुक्ति मिली। किन्तु मुस्लिम इतिहासकारों के इस विवरण को एकपक्षीय मानते हुए ओझा तथा डा गोपीनाथ शर्मा ने शिलालेखों (कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति) व तर्कों के आधार पर कहा है कि कुम्भा की ही जीत हुई थी।

(ii) 1457 ई में गुजरात के सुल्तान कुतबुद्दीन व मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी में चांपानेर स्थान पर सन्धि हुई जिसमें तय किया गया कि दोनों की संयुक्त सेनाएं मेवाड़ पर आक्रमण करेंगी तथा विजय के बाद मेवाड़ का दक्षिणी भाग गुजरात में तथा शेष भाग मालवा में मिला लिया जाय। कुतबुद्दीन आबू को जीतता हुआ आगे बढ़ा व मालवा सुल्तान महमूद अपनी ओर से बढ़ा। फरिश्ता ने राणा की पराजय बतलाई है किन्तु कीर्ति स्तम्भ में राणा कुम्भा की विजय अंकित की गई है।[2] रसिक प्रिया ग्रन्थ से भी कुम्भा की विजय की पुष्टि होती है।

(iii) 1458 ई में कुम्भा ने नागौर का पुनः अधिकार में किया। श्यामलदास के अनुसार— नागौर का हाकिम शम्स खाँ और मुसलमानों द्वारा गौ वध बहुत होने लगा था। मालवा के सुल्तान के मेवाड़ आक्रमण के समय शम्स खाँ ने उसकी राणा के विरुद्ध सहायता की थी तथा शम्स खाँ ने किले की मरम्मत शुरू कर दी थी। अतः राणा ने नागौर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया।[3]

(iv) 1458 ई में गुजरात के सुल्तान का कुम्भलगढ का पुनः आक्रमण हुआ किन्तु वह पुनः हार कर वापस लौट गया तथा 25 मई 1458 में उसकी मृत्यु हो गई।

(v) कुतबुद्दीन के बाद महमूद बेगड़ा गुजरात का सुल्तान बना। उसने 1459 ई में जूनागढ पर आक्रमण किया। जूनागढ का शासक कुम्भा का दामाद था अतः कुम्भा ने उसकी सहायता कर बेगड़ा को हराकर भगा दिया।

इस प्रकार मालवा व गुजरात से मेवाड़ की अनवरत प्रादेशिक प्रतिद्वंद्विता चलती रही जिसमें कुम्भा अपनी युद्ध नीति में सफल रहा। डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— इस सम्पूर्ण युद्ध की परिस्थिति में हम महाराणा कुम्भा को सुरक्षा नीति का अनुयायी पाते हैं। वह जानता था कि मेवाड़ जैसे राज्य के लिए सुदृढ़

1 ब्रिग्स (फरिश्ता) भाग 4 p 41
2 कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति श्लो 171
3 श्यामलदास वीर विनोद

गुजरात और मालवा तक अपना राज्य विस्तारित करना उचित नहीं होगा अतएव उसने कभी (अपनी सीमा से आगे) बढ़ कर युद्ध की व्यवस्था न बनाई। मेवाड़ की प्राकृतिक स्थिति से लाभ उठाकर सैनिक केन्द्रों में मोर्चे बन्दी करना शत्रु को भीतरी भाग में घुसने का अवसर देना और लौटती हुई फौज का पीछा कर खदेड़ना यही उस समय के लिए उपयुक्त नीति थी। इस अर्थ में कुम्भा ने लम्बे समय तक इन शक्ति सम्पन्न राज्यों से टक्कर ली। जिस युद्ध का प्रारम्भ कुम्भा ने किया उसे लम्बा बनाये रखा और अपने समय में भी निर्णायक युद्ध नहीं होने दिया।[1] गुजरात व मालवा के प्रति ये कथन कुम्भा की सामरिक नीति के परिचायक है।

मारवाड़ व हाड़ौती से अन्तः प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता
(Inter Regional Rivalry with Marwar & Harauti)

मारवाड़ से अन्तः प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता

पूर्व में बतलाया जा चुका है मारवाड़ (मण्डोर) की गद्दी पर 1427 ई. में अधिकार करने के पूर्व तथा पश्चात् रणमल मेवाड़ में सर्वेसर्वा बन गया था किन्तु सीसोदिया सामन्तों के षडयन्त्र के कारण उसकी प्रेयसी भारमली द्वारा उसका वध 1438 ई. में करा दिया गया था। चूड़ा को माण्डू से बुलवाकर यह षड्यन्त्र किया गया था जिसके लिए कुम्भा का समर्थन प्राप्त था। अपने पिता रणमल की हत्या के बाद जोधा चित्तौड़ से भाग कर मारवाड़ के एक गाँव काहूँनी में रहने लगा। चूड़ा के नेतृत्व में मेवाड़ की सेना ने मण्डोर पर अधिकार कर लिया तथा वहाँ का प्रबन्ध उसने अपने पुत्रों—कुन्तल, मांजा, सूवा तथा झाला विक्रमादित्य के हाथों में सौंप दिया। जोधा मण्डोर लेने का प्रयत्न करता रहा। उसने राणा के समर्थकों को अपनी ओर मिला लिया। उसे सत्तावत के रावत लूणा व हरबू सांखला से काफी सहायता मिली और 1453 ई. में उसने मण्डोर पर पुनः अधिकार कर लिया।[2]

मारवाड़ मेवाड़ की यह अन्तः प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता राठौड़ों व सीसोदियों के लिए हानिकारक थी। डा. गोपीनाथ शर्मा ने इस प्रतिद्वन्द्विता के अन्त का विवरण देते हुए कहा है कि—'इधर कुम्भा भी गुजरात व मालवा अभियान में लगा हुआ था और चाहता था कि जोधपुर से मैत्री सम्बन्ध बना ले। उधर हंसाबाई का भी आग्रह था कि जोधपुर पर अधिक समय तक अधिकार न रखा जाए। इन विविध कारणों को लेकर मेवाड़ मारवाड़ में सन्धि हो गई। जोधा ने अपनी पुत्री शृंगार देवी का विवाह महाराणा कुम्भा के पुत्र रायमल के साथ कर बैर को समाप्त कर दिया। मेवाड़ के लिए लगभग 15 वर्ष का मारवाड़ पर अधिकार

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 231
2 मारवाड़ की ख्यात भाग 1 p 41–43

राजनीतिक प्रभाव को बढाने के लिए लाभप्रद सिद्ध हुआ।[1] डा ओझा ने भी यही मत व्यक्त किया है।

हाडौती से अन्त प्रादेशिक प्रतिद्वन्द्विता

हाडौती का बूदी राज्य मेवाड के पूर्व मे स्थित है। कुम्भा ने राज्य विस्तार हेतु पूर्वी भागो पर विजय की ओर ध्यान दिया। रणकपुर लेख एव कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति मे हाडौती विजय का उल्लेख किया गया है। यद्यपि बूदी के शासक मेवाड के सामन्त थे किन्तु जब वे स्वतन्त्र हो गए तो कुम्भा ने अपनी सेना भेजकर गागरौन बम्बावदा जहाजपुर और माण्डलगढ जीत लिए और बूदी के शासक को खिराजगुजार घोषित कर उसे अपने राज्य का स्वामी रहने दिया। मेवाड के सीमान्त भाग मे मित्र रखकर कुम्भा ने अपनी विचारशील नीति का परिचय दिया।[2] कुम्भा के समकालीन बूदी के हाडा नरेश बरीशाल व भाण थे। बूदी के राजा भाण ने जब अपने भाई सांडा (कोटा के शासक) के विरुद्ध मालवा के सुल्तान से मदद मांगी तो कुम्भा ने सांडा की सहायता कर भाण को बूदी से 12 मील दूर खटकड गाँव मे पराजित किया तथा मेवाड के पूर्वी पठारी इलाके अपने राज्य मे मिला लिए। बी एन दिवाकर का कथन है कि— कुम्भा की यह नीति थी कि वह हिन्दू राजाओ को मुसलमानो की अधीनता व गुलामी से रोकता था।[3]

कुम्भा की अन्य विजये

इस अन्त प्रादेशिक प्रतिस्पर्द्धिता मे कुम्भा की अन्य विजयें भी कम महत्व पूर्ण नही थी। उसने अपनी प्रादेशिक प्रभु सम्पन्नता स्थापित करने हेतु उपरोक्त विजयो के अतिरिक्त गागरोण (1437 ई) नागौर (1458 ई) सिरोही (1457 ई) बदनौर के मेर मोजत डूगरपुर (1446 ई) रणथम्भोर (1442 ई) आमेर टोंक अलवर व सवाई माधोपुर के क्षेत्रो को भी जीत कर उन्हे अपने अधीन किया। *कुम्भलगढ प्रशस्ति मे कुछ अन्य विजित स्थानो के नाम* भी दिए गए है जैसे नारदीय नगर शाध्या नगरी हमीरपुर वायसपुर धान्य नगर वीसल नगर और मिहपुरी।

महाराणा कुम्भा का मूल्यांकन—उसकी उपलब्धियां
(Evaluation of Maharana Kumbha—His Achievements)

महाराणा कुम्भा के विजय अभियानो एव पडौसी मुस्लिम राज्यो—गुजरात व मालवा के विरुद्ध संघर्ष से जिनका विवरण दिया जा चुका है, वह एक महान् वीर सेनानायक एव साम्राज्य निर्माता सिद्ध होता है। डा बी एस भार्गव के शब्दो मे— मेवाड के सीसोदिया राजाओ मे राणा को छोडकर कोई भी राजा कुम्भा के समान इतना शक्ति-सम्पन्न नही था। वह वर्षो तक मुसलमानो के साथ युद्ध करता रहा और उनमे उसे निरन्तर सफलता प्राप्त हुई। उसकी सफलताओ

1–2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 226
3 बी एन दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 104

म उसका व्यक्तित्व निहित था।"[1] हरविलास शारदा के अनुसार—'कुम्भा राणा प्रताप व सांगा से भी अधिक प्रतिभावान था। उसने मेवाड के गौरवशाली भविष्य का निर्माण किया।"[2]

महाराणा कुम्भा की सांस्कृतिक उपलब्धियां भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थी जितनी कि उसकी सैनिक उपलब्धियां। वह युद्ध व शांति दोनों म अद्वितीय व्यक्तित्व का शासक था। वह एक महान् निर्माता था जिसने अनेक दुर्गों (कुम्भलगढ सिरोही के निकट बसन्ती दुर्ग आबू म अचलगढ दुर्ग आदि), मंदिर (बाडौली का शिव मन्दिर, चित्तौड का सूर्य मन्दिर व अद्भुत जी का मंदिर नागदा के सास बहू के मन्दिर आदि) तथा चित्तौड म कीर्ति स्तम्भ का निर्माण कराया। इनकी स्थापत्य कला का विवेचन आगे सम्बंधित अध्याय म किया जायेगा। कुम्भा एक महान् साहित्यकार एव साहित्यकारों का आश्रयदाता था। उसकी स्वय की रचनाओं म गीत गोविन्द की टीका रसिक प्रिया टीका चडी शतक टीका व सगीतराज हैं। उसके आश्रय म अनेक विद्वान रहते थे जैसे शिल्पी मण्डन कवि आत्री व महेश कीर्ति, कान्हा व्यास व अनेक जैन कवि जिन्होंने अनेक ग्रन्थो की रचना की। अनेक इतिहासकारों ने कुम्भा का मूल्यांकन करते हुए उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशसा की है। अन्त म सोमानी का यह कथन उल्लेखनीय है—'कुम्भा की सफलता का कारण उसका विशिष्ट व्यक्तित्व था। उसके व्यक्तिगत गुण उसे मानव से अति मानव बनाते हैं और इसी कारण पश्चात् कालीन लेखकों ने उसमें कई अलौकिक गुणों तक की कल्पना की है।[3]

महाराणा सांगा (1509–1528 ई)
(Maharana Sanga)

प्रारम्भिक परिचय

कुम्भा की हत्या 1468ई म उसके पुत्र ऊदा ने कर दी थी। कुम्भा के बाद उसके पुत्र रायमल ने पितृहन्ता ऊदा को पराजित कर 1473 ई म राज्यारोहण किया। ऊदा भाग कर माण्डू चला गया जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। रायमल ने अपने पिता कुम्भा की तुर्क विरोधी नीति का पालन किया। उसने माण्डू के सुल्तान को माण्डलगढ म पराजित किया तथा 1503 ई उसके दूसरे आक्रमण को भी विफल किया। उसके पुत्रों के परस्पर विरोध के कारण मेवाड म अराजकता फैल गई। उसके पुत्र पृथ्वीराज व सग्रामसिंह (सांगा) म सघर्ष हुआ जिसमे सांगा की एक आँख फूट गई और वह अजमेर के कर्मचन्द पँवार के आश्रय मे रहा। पृथ्वीराज ने अपने चाचा सारगदेव की हत्या कर दी किन्तु पृथ्वीराज व उसके भाई जयमल की

1 डॉ बी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 169
2 हरविलास शारदा महाराणा कुम्भा
3 रामवल्लभ सोमानी महाराणा कुम्भा

मृत्यु मोलक्यिा से युद्ध करते हो गई। अत रायमल के शेष बच तीसरे पुत्र साँगा को बुलाकर 1509 ई म उसका राज्यारोहण किया गया।

राणा साँगा ने मेवाड का प्रभुत्व चरमोत्कर्ष पर पहुचाया। सुखवीर सिंह गहलोत का यह कथन उल्लेखनीय है कि— मेवाड के महाराणाओं म ये सबसे अधिक प्रतापी और योद्धा हुए। अपने पुरुषार्थ द्वारा इन्होंने मेवाड राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुचाया था।[1] स्मिथ के शब्दों में— वास्तव म सम्पूर्ण भारत म ऐसा कोई राजा नहीं था जो राणा साँगा के सामने सिर उठाने का साहस कर सकता।'[2] डा आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव का मत है कि — राणा साँगा के समय म मेवाड अपने वैभव के शिखर पर पहुँच गया था।" इन कथनों का प्रमाण राणा साँगा की उपलब्धियों के आगे किए जा रहे विवरण से मिलेगा।

साँगा की मृत्यु 30 जनवरी 1528 ई को बसवा नामक स्थान पर हो गई थी। उनके व्यक्तित्व का चित्रण श्यामलदास ने इन शब्दों म किया है— महाराणा साँगा का मझला कद मोटा चेहरा बडी आँखें लम्बे हाथ और गेहुआ रंग था। ये दिल के बडे मजबूत थे। इनकी जिन्दगी म इनके बदन पर चौरासी जख्म शस्त्रों के लगे थे। एक आँख वे काम एक हाथ कटा हुआ और एक पैर लगडा ये भी लडाई की निशानियाँ उनके अंग पर मौजूद थी। ऐसे व्यक्तित्व वाले राणा साँगा की सैनिक उपलब्धियाँ अनुपम थी।

प्रारम्भिक कठिनाइयाँ

राज्यारोहण के पूर्व साँगा का उनके ज्येष्ठ भ्राता पृथ्वीराज से संघर्ष एवं कर्मचन्द पंवार के यहाँ अज्ञातवास करने का उल्लेख किया जा चुका है। राज्यारोहण के पश्चात् साँगा की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि— उसका राज्य चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ था। दिल्ली म लोदी वंश का सुल्तान सिकन्दर, गुजरात म महमूदशाह बेगडा और मालवा म नासिरुद्दीन राज्य करते थे। वैसे तो ये एकाकी रहने की स्थिति म अधिक शक्तिशाली न थे परन्तु इनका आपसी सहयोग मेवाड के लिए हानिकारक था। इन राज्यों से उत्तर पूर्वी और दक्षिण तथा पश्चिमी मेवाड की सीमाओं पर आक्रमण का भय था। इस स्थिति को सन्तुलित करने के लिए महाराणा ने अपने हितैषी कर्मचन्द पँवार को रावत की पदवी देकर सम्मानित किया और अजमेर परबतसर माण्डल फूलिया बनेडा आदि 15 लाख की वार्षिक आय के परगने जागीर में दिए। इस प्रकार उत्तर पूर्वी मेवाड के भू भाग म एक शक्तिशाली सामन्त स्थापित कर साँगा ने अपनी सीमा की सुरक्षा कर ली। दक्षिण और पश्चिमी मेवाड की सुरक्षा हेतु उसने सिरोही तथा वागड के शासकों को अपना मित्र बनाया

1 सुखवीरसिंह गहलोत राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास
2 *Smith* The Oxford History of India प 322
3 डॉ आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव दिल्ली सल्तनत

तथा ईडर के राज्य सिंहासन पर अपने प्रशसक रायमल को बिठाया। मारवाड का शासक भी उसका सहयोगी बन गया।'[1]

केन्द्रीय सुल्तान शासको का उल्लेख करते हुए डा वी एस भार्गव ने कहा है कि—'सौभाग्य से सांगा के समय दिल्ली की गद्दी पर इब्राहीम लोदी जैसा निर्बल सुल्तान विराजमान था। उसे भी राणा सांगा की बढती हुई शक्ति से चिन्ता हुई और खातोली के युद्ध क्षेत्र मे दिल्ली सल्तनत की सेनाओ से शक्ति परीक्षण किया। 1526 ई मे इब्राहीम लोदी की पराजय और मृत्यु के साथ बाबर ने भारत मे मुगल साम्राज्य स्थापित कर लिया। इसके विरुद्ध भी राणा सांगा ने 1527 ई मे सशस्त्र युद्ध लडा।'[2]

महाराणा सांगा के नेतृत्व मे मेवाड राज्य का उत्थान
(Rise of Mewar State under Maharana Sanga)
or
राणा सांगा की उपलब्धियां
(Achievements of Rana Sanga)

राणा सांगा की सैनिक उपलब्धियो का संक्षिप्त विवरण निम्नांकित है—

राणा सांगा के मालवा से सम्बन्ध
(Relations of Rana Sanga with Malwa)

संघर्ष के कारण—मालवा का शासक महमूद खिलजी राणा सांगा का प्रतिद्वन्द्वी था। अत उन दोनो मे संघर्ष हुआ जिसके कारण निम्नांकित थे—

(i) मालवा और मेवाड की शत्रुता 1401 ई मे मालवा के दिल्ली सल्तनत की अधीनता से मुक्त होते ही आरम्भ हो गई थी। इस परम्परागत शत्रुता के कारण मेवाड के राणा व मालवा के सुल्तान परस्पर संघर्षरत बने रहे।

(ii) दोनो ही राज्य विस्तारवादी नीति के समर्थक थे अत संघर्ष अनिवार्य था।

(iii) मालवा व मेवाड क्रमश मुस्लिम व हिन्दू धर्म के पोषक व रक्षक थे।[3]

(iv) मालवा के उत्तराधिकार के युद्ध मे राणा सांगा द्वारा मालवा सुल्तान के वजीर एव विरोधी मेदिनी राय को सहायता देने व गागरोन व चन्देरी आदि प्रदेशो की जागीर देने से सुल्तान राणा से प्रतिशोध लेना चाहता था।

(v) जब मेदिनी राय राणा सांगा की सहायता लेने गया था तो उसका पुत्र नत्थू गुजरात की सेना की सहायता से महमूद के माण्डू आक्रमण

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 264–265
2 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास, p 178
3 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 182

के समय मारा गया। यह युद्ध का तात्कालिक कारण बना। मेदिनी राय ने राणा साँगा को मालवा पर आक्रमण हेतु उत्प्रेरित किया।[1]

युद्ध— मेदिनी राय राणा साँगा की सहायता से मालवा पर चढ़ आया पर उपयुक्त अवसर न समझ राणा की फौजें चित्तौड़ लौट गई। "जब सुल्तान महमूद ने मेदिनी राय को दण्ड देने के लिए गागरोन पर आक्रमण किया तो राणा ने महमूद को परास्त कर कैद कर दिया। इस अवसर पर एक शाहजादे को जामिन के तौर पर चित्तौड़ छोड़ा और महाराणा को रत्न जटित मुकुट तथा सोने की कमर पेटी भेंट की।"[2] यह युद्ध 1519 ई. में हुआ। महमूद को बन्दी बनाकर छोड़ देने के इस काय की कुछ इतिहासकारों ने निन्दा की है। हरविलास शारदा के शब्दों में 'यह राजनीतिक अदूरदर्शिता का परिणाम था।'[3] किन्तु डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार 'हमारे विचार से वास्तव में राणा का ऐसा करना बुद्धिमानी का द्योतक है। जब वह दूरस्थ माण्डू पर अपना अधिकार नहीं रख सकता था तो वह इस उदारता से क्यों न शत्रु को जीतता। इस प्रकार की नीति महाराणा कुम्भा की नीति का अनुसरण मात्र थी जो हर प्रकार से समयोचित थी। आगे होने वाली घटनाएँ भी इस नीति का समर्थन करती हैं।'[4]

परिणाम—वस्तुतः राणा साँगा की इस नीति के कारण गुजरात मालवा के सम्मिलित आक्रमण की सम्भावना कम हो गई। इससे शक्ति सन्तुलन हो गया।

राणा सांगा के गुजरात से सम्बन्ध
(Relations of Rana Sanga with Gujrat)

संघर्ष के कारण—मेवाड़ गुजरात संघर्ष के निम्नांकित कारण थे—

(i) नागौर के मुस्लिम राज्य को राणा कुम्भा ने अधिकृत कर लिया था जो गुजरात का समर्थक था। अतः गुजरात का सुल्तान मुजफ्फर नागौर को स्वतन्त्र राज्य बनाना चाहता था।

(ii) गुजरात के सुल्तान ने मेदिनी राय के विरुद्ध माण्डू आक्रमण हेतु महमूद की सैनिक सहायता की थी। इसमें राणा सांगा ने मेदिनी राय की सहायतार्थ माण्डू पर आक्रमण किया।

(iii) गुजरात-मेवाड़ की परम्परागत शत्रुता व विस्तारवादी प्रतिद्वंद्विता थी।

(iv) संघर्ष का तात्कालिक कारण ईडर राज्य के उत्तराधिकार का मामला था। ईडर के राव भाण के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र सूर्यमल राव बना किन्तु 18 माह बाद उसकी मृत्यु हो गई। सूर्यमल का पुत्र

1 बी. एम. दिवाकर : राजस्थान का इतिहास, p. 142
2 ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 p. 353-56
3 हरविलास शारदा : महाराणा सांगा, p. 68-69
4 पूर्वोद्धत पृ. 266-67

रायमल गद्दी पर बैठा किन्तु उसके चाचा भीम ने उससे राज्य छीन लिया। रायमल राणा सांगा की शरण मे आ गया। भीम के मरने के बाद उसका पुत्र भारमल राव बना किन्तु राणा सांगा ने सही उत्तराधिकारी रायमल को गद्दी पर बैठा दिया। भारमल ने गुजरात के सुल्तान से सहायता ली। गुजरात के सेनापति निजामुल्मुल्क ने भारमल को गद्दी पर बैठा दिया किन्तु रायमल ने पहाडो से निकल कर ईडर स्थित गुजराती सेनापति जहीरुलमुल्क को पराजित कर मार डाला। इस पर गुजरात के सुल्तान ने ईडर पर आक्रमण कर उसे लूटा।[1]

युद्ध व उसके परिणाम—राणा सांगा ने उपरोक्त समाचार सुनकर 1518ई म चित्तौड से प्रस्थान कर एक ही दिन म ईडर को जीत लिया। गुजराती सेना अहमदाबाद की ओर भागी किन्तु सांगा ने पीछा करते हुए अहमदाबाद दुर्ग को घेर लिया व फाटक तोड दुर्ग म प्रवेश किया और लूटा। सांगा ने बडनगर वीसलनगर व गुजरात प्रदेश को भी लूटा और चित्तौड वापस आया।

इस पराजय का प्रतिशोध लेने हेतु 1520 ई म सुल्तान ने मेवाड पर आक्रमण किया। मन्दसौर म भीषण युद्ध हुआ किन्तु सुल्तान ने सन्धि कर ली और वापस चला गया।

"1524 मे गुजरात के सुल्तान का लडका बहादुर खाँ भाई की शत्रुता के कारण राणा सांगा के पास चित्तौड चला गया। महाराणा की माता ने उसे अपना बेटा बनाया और वह बहुत दिनों तक चित्तौड म रहा। सांगा ने अपने सफल अभियान म गुजरात को लूटा, ईडर पर अपना प्रभुत्व जमाया और गुजरात के उत्तराधिकारी को अपने यहाँ शरण देकर अपने प्रभुत्व की धाक चारो ओर फैला दी।'[2]

राणा सांगा तथा इब्राहीम लोदी
(Rana Sanga and Ibrahim Lodi)

युद्ध के कारण—राणा सांगा व दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी के मध्य युद्ध के कारण निम्नांकित थे—

(i) इब्राहीम लोदी की साम्राज्यवादी आकांक्षा ने उसे राणा सांगा के साथ संघर्ष हेतु उत्प्रेरित किया।

(ii) राणा सांगा ने अपना राज्य विस्तार बयाना तक विस्तृत कर लिया था जो दिल्ली व आगरा के सुल्तान के लिए चुनौती था।[3]

(iii) मालवा को अधिकृत करने हेतु राणा सांगा व इब्राहीम लोदी के मध्य प्रतिद्वन्द्विता थी। डा अवध बिहारी पाण्डे के अनुसार—

1–2 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 144–45
3 हरबिलास शारदा महाराणा सांगा

'मालवा का राज्य राणा सांगा और इब्राहीम लोदी के बीच कबाब में हड्डी की तरह था।[1]

(iv) श्यामलदास ने एक अन्य कारण बतलाया है—' राणा सांगा ने गद्दी पर बैठते ही 1508 ई. में अजमेर पर अधिकार कर अजमेर व नागौर की जागीर कर्मचन्द पवार को सौंप दी थी। अजमेर शाही प्रदेश होने के कारण इब्राहीम लोदी उसे पुनः हस्तगत करना चाहता था।

युद्ध—उपरोक्त कारणों से 1517 ई. में इब्राहीम लोदी ने मेवाड़ पर आक्रमण किया। खातोली (मेवाड़ के जिले बसी में स्थित) के करीब मैदान में सांगा व लोदी की सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। लोदी के सेनापति मियां मक्खन की सेना भागने लगी और इब्राहीम लोदी के रोकने पर भी न रुकी तो वह स्वयं भी रणक्षेत्र से भाग गया। इस युद्ध में सांगा का एक हाथ कट गया व पैर में तीर लगने से वह लँगड़ा भी हो गया। बाबर ने भी अपनी आत्मकथा में इसका उल्लेख किया है।

इब्राहीम लोदी ने प्रतिशोध लेने हेतु पुनः मेवाड़ पर आक्रमण किया किन्तु पराजित हुआ। यह युद्ध धौलपुर के निकट हुआ था। हरविलास शारदा के अनुसार— राणा चाहता तो इसी समय भागते हुए सुल्तान का पीछा कर के आगरे को अधिकृत कर सम्पूर्ण उत्तरी भारत को जीत सकता था किन्तु युद्ध में वह स्वयं भी घायल हो गया था।[3]

बी. एम. दिवाकर ने युद्ध के परिणामों के सम्बन्ध में कहा है कि—'इस विजय से सारे राजपूत राजाओं ने सांगा का प्रमुत्व स्वीकार कर लिया। राणा ने अपनी चमत्कारपूर्ण विजयों से मेवाड़ को राजस्थान का सूर्य बना दिया और उसे हिन्दू पद की उपाधि से सुशोभित किया गया।[4] डा. ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार—' राणा सांगा की आकांक्षा दिल्ली पर हिन्दू राज्य स्थापित करने की थी।'[5]

राणा सांगा तथा बाबर—खानवा का युद्ध (16 मार्च 1527)
[Rana Sanga and Baber—Battle of Khanva (16th March, 1527)]

खानवा का युद्ध (16 मार्च, 1527 ई.)

कारण—राणा सांगा के विरुद्ध बाबर के युद्ध के निम्नांकित कारण थे—

(1) बाबर के ही शब्दों में— यद्यपि काफिर राणा सांगा ने मेरे पास बड़े स्नेह से अपने दूत द्वारा वचन दिया था कि ज्योंही मैं दिल्ली पर आक्रमण करूंगा

1 *Dr Avadh Bihari Pandey* First Afgan Empire in India
2 श्यामलदास वीर विनोद p 354
3 हरविलास शारदा महाराणा सांगा
4 पूर्वोद्धृत पृ 147
5 *Dr A L Srivastava* Delhi Sultanat

राणा साँगा भी उसकी सहायतार्थ दूसरी ओर से आगरा पर आक्रमण कर देगा किन्तु मेरे द्वारा इब्राहीम को पराजित कर दिल्ली तथा आगरा पर अधिकार करने के समय तक भी राणा साँगा ने मेरी कोई सहायता न की।'[1] राणा साँगा की ओर से यह विश्वासघात बाबर से युद्ध का कारण बना।

(2) दूसरे पक्ष के अनुसार राणा साँगा को बाबर से यह शिकायत थी कि बाबर ने काल्पी, धौलपुर, बयाना तथा आगरा को राणा साँगा को देने के बजाय उन्हें स्वयं ही अधिकृत कर लिया।

(3) राणा साँगा ने बयाना को वहाँ के शासक निजामखाँ से छीन कर अधिकृत कर लिया। इस पर बाबर की सहायता से निजामखाँ ने अपने को बयाना का पुनः शासक नियुक्त किया। अतः बाबर से राणा साँगा का संघर्ष अनिवार्य हो गया।

युद्ध की घटना—16 मार्च 1527 ई० को दोनों ओर की सेनाएँ सीकरी से 10 मील तथा आगरा से 20 मील की दूरी पर स्थित खानवा नामक स्थान पर एकत्रित हो गयीं। बाबर ने पानीपत के युद्ध के समान ही अपनी युद्ध योजना बनाई किन्तु इस बार उसने अपनी तोपों को पहिये वाली तिपाइयों पर स्थिर करवाया ताकि उन्हें सुविधानुसार स्थानान्तरित किया जा सके। सुरक्षित सेना भी इस बार संख्या में अधिक थी। मध्य भाग का बाबर ने स्वयं नेतृत्व किया तथा दायें एवं बायें पक्ष का नेतृत्व क्रमशः हुमायूँ एवं बाबर के बहनोई मेंहदी ख्वाजा ने किया।

यद्यपि बाबर की सेना इस समय पहले से अधिक थी किन्तु राणा साँगा की सेना उससे आठ गुनी अधिक थी जिसके कारण बाबर के सैनिक हताश होने लगे। इसके अतिरिक्त एक ज्योतिषी द्वारा बाबर के प्रतिकूल भविष्यवाणी करने से सेना का मनोबल और भी गिर गया। बाबर निराश न हुआ। उसने अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए सेना के समक्ष शराब न पीने की शपथ ली तथा शराब पीने के सोने चाँदी के सभी बर्तनों को नष्ट कर उन्हें दरवेशों में वितरित करा दिया। इसके बाद उसने अपनी सेना को इन शब्दों में सम्बोधित किया— अमीरों तथा सैनिकों! प्रत्येक व्यक्ति जो इस संसार में आता है नश्वर है। सम्मानपूर्वक मरना अपयश से जीने की अपेक्षा कितना अच्छा है। सर्वश्रेष्ठ परमात्मा ने प्रसन्न होकर हमें इस कार्य (जिहाद) में नियोजित किया है। यदि हम मारे गए तो शहीद होंगे और यदि विजयी हुए तो ईश्वर के उद्देश्य की जीत होगी।'[2]

सेना पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। सैनिकों ने कुरान पर हाथ रख कर प्रतिज्ञा की कि वे अन्त समय तक लड़ते रहेंगे। बाबर ने साँगा की सेना पर आक्रमण किया। राजपूत बड़ी वीरता से लड़े। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। युद्ध में राणा को हाथी पर बैठे हुए तीर लगने के कारण घायल हो जाने पर उसे युद्ध-क्षेत्र से हटाकर सिमवा ले जाया गया। युद्ध चलता रहा किन्तु जब राजपूत सेना को राणा साँगा के

1-2 बाबरनामा p 550-557

युद्ध क्षेत्र से चले जाने का पता चला तो उसका मनोबल गिर गया और वह भाग खड़ी हुई। बाबर की युद्ध में विजय हुई।

परिणाम—खानवा का यह युद्ध भी पानीपत के प्रथम युद्ध के समान निर्णायक सिद्ध हुआ। इसके निम्नांकित परिणाम हुए—

(1) राजपूतों की प्रभुता समाप्त हो गयी। ऐसा कोई राजपूत वंश नहीं था जिसके श्रेष्ठ नायक का इस युद्ध में रक्त न बहा हो। इस युद्ध के बाद अनेक वर्षों तक राजपूत शक्ति सम्पन्न न हो सके।

(2) राणा सांगा की पराजय के बाद बाबर भारत का पूर्णरूप से शासक बन गया तथा मुगल साम्राज्य की नींव दृढ़ हो गयी।

(3) बाबर के दर-दर की ठोकरें खाने के दिन भी समाप्त हो गये। अब उसने भारत में अपने पैर जमा लिये। उसका ध्यान अब काबुल से हटकर भारत की ओर केंद्रित हो गया।

(4) इस युद्ध के बाद उसके द्वारा अन्य विरोधियों को परास्त करने का कार्य सुगम हो गया।

खानवा युद्ध के पूर्व सांगा द्वारा लिए गए निर्णय उसकी पराजय के कारण कैसे बने ?

(How far Sanga's decisions taken before the Battle of Khanva were causes of his defeat ?)

खानवा युद्ध के पूर्व सांगा की प्रतीक्षा करो व देखो (Wait & See) की नीति उसकी पराजय की मुख्य कारण रही। डा. वी. एस. भार्गव ने ठीक कहा है कि— राणा सांगा की पराजय का सबसे बड़ा कारण यह था कि उसने अवसर का सदुपयोग नहीं किया। इसका दुष्परिणाम यह निकला कि बाबर को तैयारी का काफी समय मिल गया और राणा की खानवा के युद्ध क्षेत्र में पराजय हुई।[1] डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— सांगा ने बयाना और खानवा की घटना के बीच लगभग एक मास का अवसर देकर शत्रु को सचेत कर अपना ही अहित किया। विजय की मस्ती में राणा आने वाली पराजय की आशंकाओं को भूल गया। यह विस्मृति राजपूत प्रतिष्ठा के लिए अन्त में घातक सिद्ध हुई।[2] डा. ओझा का भी यही मत है— इस पराजय का मुख्य कारण महाराणा सांगा का प्रथम विजय के बाद तुरन्त ही युद्ध न करके बाबर को तैयारी करने का पूरा समय देना ही था। यदि वह बयाना की पहली लड़ाई के बाद ही आक्रमण करता तो उसकी जीत निश्चित थी।[3] एलफिन्स्टन का कथन है कि— यदि राणा मुसलमानों की पहली घबराहट पर ही आगे बढ़ जाता तो उसकी विजय निश्चित थी।"[4]

1 पूर्वोद्धृत पृ. 2-3
2 डा. गोपीनाथ शर्मा Mewar & the Mughal Emperors p 41-46
3 डा. ओझा — उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1 p 379
4 *Elphinstone* History of India p 423

उपरोक्त इतिहासकारो के मत यह सिद्ध करते हैं कि खानवा युद्ध के पूर्व साँगा द्वारा लिए गए निर्णय उसकी पराजय के कारण थे।

साँगा के अंतिम दिन—खानवा के युद्ध क्षेत्र से घायल व मूर्छित अवस्था मे साँगा को पालकी मे बसवा नामक स्थान पर ले जाया गया। होश मे आने पर उसने बाबर को परास्त किए बिना चित्तौड जाने से इन्कार कर दिया और सामन्ता को आमन्त्रण पत्र लिख इरिच के मैदान मे बाबर से युद्ध हेतु आ डटा। उसके सामन्ता ने इस बार की पराजय एव मेवाड के सवनाश के भय से साँगा को विष देकर 30 जनवरी 1528 मे मार डाला।

सागा का मूल्यांकन—डा ओझा के शब्दो मे—'सागा वीर, उदार, कृतज्ञ, बुद्धिमान और न्याय परायण शासक था।' बाबर ने आत्मकथा मे लिखा कि—"राणा सागा अपनी बहादुरी और तलवार के बल पर बहुत बडा हो गया था।" डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो मे—"उसने हिम्मत मरदानगी और वीरता के आचरण को अपनाकर अपने आपको अमर बनाया। आज भी उसके जीवन के उद्देश्य और आचरण भारतीय जनता के लिए आदर्श बने हुए हैं।"[1]

KEXAMS

4 साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध–चन्द्रसेन व महाराणा प्रताप

(Resistance to Imperial Power—Chandrasen and Maharana Pratap)

राजस्थान में साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध विशेषतः मारवाड़ तथा मेवाड़ राज्यों के शासकों क्रमशः चन्द्रसेन व महाराणा प्रताप ने किया। मारवाड़ में वहाँ के राठौड़ शासक मालदेव ने दिल्ली के अफगान सम्राट शेरशाह सूरी का प्रतिरोध किया किन्तु शेरशाह ने धोखे से मालदेव के हृदय में उसके सामन्तों के प्रति संदेह उत्पन्न कर उसे पीछे हटने को विवश किया किन्तु इन सामन्तों ने अफगान सेना का 5 जनवरी 1544 को सामेल के युद्ध में सामना किया किन्तु पराजित हुए। यद्यपि शेरशाह को विजय प्राप्त हुई तथापि वह यह कहने पर विवश हुआ था कि मुट्ठी भर बाजरे के लिए मैं हिन्दुस्तान की बादशाहत खो देता। इससे यह प्रकट होता है कि अफगान साम्राज्यिक शक्ति का मालदेव ने कड़ा प्रतिरोध किया था। यदि मालदेव की सेना संगठित रहती तो शेरशाह इस युद्ध में कभी नहीं जीतता।[1]

शेरशाह की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों से भागे हुए मुगल सम्राट हुमायूँ ने 1554 में पुनः दिल्ली की गद्दी प्राप्त की। उसकी 1556 में मृत्यु के बाद अकबर मुगल सम्राट हुआ। उसकी राजपूत नीति का उद्देश्य राजस्थान के राजाओं को पराजित कर अथवा उनसे वैवाहिक सम्बन्धों को स्थापित कर उन्हें अपने अधीन करना था। अकबर की इस नीति के फलस्वरूप मारवाड़ के शासक चन्द्रसेन तथा मेवाड़ के शासक महाराणा प्रताप ने साम्राज्यिक शक्ति का डटकर मुकाबला किया। इस अध्याय में चन्द्रसेन व राणा प्रताप के सन्दर्भ में इसी प्रतिरोध का विवेचन किया जाएगा।

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 194

चन्द्रसेन (1562–1581)
(Chandrasen, 1562—1581)

प्रारम्भिक परिचय

मारवाड के शासक राव मालदेव की मृत्यु के बाद साम्राज्यिक शक्ति के प्रतिरोध का नेतृत्व उसके पुत्र चन्द्रसेन ने किया। कर्नल टाड ने इस समय की मारवाड की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि 'राजा मालदेव की मृत्यु के पश्चात् मारवाड राज्य के इतिहास का एक नया अध्याय आरम्भ हुआ। वहा के शासन और सम्मान म अनेक परिवर्तन हो गए। मारवाड म जहा पर राजपूतो का पचरगा झण्डा फहराता था वहा पर अब मुगलो का झण्डा फहरा रहा था।"[1] इस परिस्थिति को समझने हेतु हम मालदेव के उत्तराधिकारी चन्द्रसेन के जीवन वृत्त का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करना होगा।

मालदेव की मृत्यु 1562 ई मे हुई। वह अपने जीवन काल म ही अपने तीसरे पुत्र चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी बना गया था। उसके चार पुत्र थे—राम उदयसिंह चन्द्रसेन तथा रायमल। डा गोपीनाथ शर्मा ने उपलब्ध स्रोतो के आधार पर कहा है कि राव मालदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र राम से अप्रसन्न होकर उसे राज्य स निर्वासित कर दिया, जिस पर वह केलवा (मेवाड) म जाकर रहने लगा। उसके छोटे भाई से भी उसकी पटरानी नाराज हो गई जिससे उसे राज्याधिकार स वंचित रखा गया और उसे जागीर देकर फलोदी भेज दिया। अतएव पिता की मृत्यु पर 1562 ई म चन्द्रसेन, जो तीसरा पुत्र था मारवाड का शासक बना। वास्तव म चन्द्रसेन का गद्दी मिलना कई सरदारो और उसके अन्य भाइयो को अच्छा नही लगा। चन्द्रसेन ने आवेश मे आकर एक चाकर को मरवा डाला। इस घटना से राठौड पृथ्वीराज तथा अन्य सरदार बहुत बिगडे। उन्होने इस अन्यायपूर्ण कार्य के लिए चन्द्रसेन को दण्ड देने के लिए गठबन्धन किया और राम उदयसिंह तथा रायमल को आमन्त्रित किया कि वे चन्द्रसेन का विरोध करें।[2] अत विद्रोही गुट ने चन्द्रसेन का विरोध करना आरम्भ कर दिया। विश्वेश्वरनाथ रेऊ के शब्दो म "चन्द्रसेन के तीनो भाई जो पहले स ही अप्रसन्न थे इस सूचना को पाते ही विद्रोह के लिए तयार हो गए।[3]

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार "राम ने केलवा से आकर सोजत में उपद्रव किया। रायमल दुनाडे में विद्रोह करने लगा तथा उदयसिंह ने गाँगाणी के निकट लोहावट गाँव को लूटा। राव चन्द्रसेन ने राम और रायमल के उपद्रव का दमन किया तथा उदयसिंह को लोहावट म सघर्ष कर बरछी से घायल किया किन्तु वह बच कर भाग गया। उदयसिंह ने फलोदी म चन्द्रसेन की सेना का सामना करने के लिए

1 टॉड राजस्थान का इतिहास (श्री ईश्वरीप्रसाद), p 370
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 327
3 प विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड का इतिहास

तयारी की किन्तु कुछ सरदारों ने इस गृह कलह को चन्द्रसेन को समझा बुझाकर शान्त किया।[1] यह घटना 1562 में घटित हुई।

चन्द्रसेन के प्रति अकबर की नीति
(Akbar s Policy Toward Chandrasen)

यद्यपि भाइयों के विद्रोह के दमन में चन्द्रसेन सफल रहा था किन्तु उसके भाइयों के अकबर की शरण में चले जाने से स्थिति बदल गई और चन्द्रसेन का पक्ष दुर्बल पड गया। उसका भाई राम 1564 में अकबर के दरबार में सहायतार्थ पहुँचा। अकबर राजस्थान विजय हेतु अपनी योजना को क्रियान्वित करने के लिए अवसर की तलाश में था। मारवाड के गृह कलह ने उसे यह उपयुक्त अवसर दिया। उसने राम को आश्रय दिया। उदयसिंह भी विद्रोही सरदारों की सलाह पर नागौर के शासक हसन कुली बेग की शरण में चला गया। अकबर ने उसे मारवाड की गद्दी देने का वायदा किया।

वी एस दिवाकर का मत है कि "भाइयों की शत्रुता सरदारों का स्वार्थ और गद्दी की भूख मारवाड की आजादी को खा गई। आपसी लडाई से शक्ति क्षीण हो गई। इस अवसर से अकबर ने लाभ उठाना उचित समझा। अब तक वह कई राजपूत राजाओं से मित्रता कर चुका था। जसलमेर और बीकानेर के राजा भी उसकी शरण में आ गए थे। जयपुर (आमेर) पहले ही अकबर का समर्थक हो चुका था। केवल जोधपुर और मेवाड के शासक अपनी स्वतन्त्रता की बीन बजा रहे थे। जोधपुर को अपने शिविर में पाकर अकबर के हाकिम बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उदयसिंह को मारवाड की गद्दी दिलवाने का वायदा किया। भाइयों का यह उत्तराधिकार का युद्ध और उदयसिंह का मुगलों की शरण में जाना मारवाड को महँगा पडा। इसी समय से 19 वर्ष का संघर्ष शुरू हुआ और चन्द्रसेन की मृत्यु के बाद 1581 में उदयसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठा।"[2]

जोधपुर पर मुगल आधिपत्य—राव चन्द्रसेन का भाई उदयसिंह जब नागौर के शासक हुसन कुली बेग की शरण में चला गया और अकबर से सहायता की प्रार्थना की तो अकबर ने हसन कुली बेग के नेतृत्व में सेना भेजकर जोधपुर पर अपना अधिकार कर लिया। इस घटना का उल्लेख अबुलफजल कृत अकबरनामा में किया गया है किन्तु जोधपुर राज्य की ख्यात में कहा गया है कि शाही सेना ने तीन बार जोधपुर दुर्ग को घेरा डाला और तीसरी बार उसे लेने में मुगल सेना सफल हुई। डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि हो सकता है कि कुछ प्रारम्भिक घेरे के प्रयत्नों को अलग अलग घेरे बताकर ख्यातों में घटना को अतिरंजित कर उल्लिखित किया गया हो। परन्तु चन्द्रसेन से किला छूटना फारसी और स्थानीय ख्यातों से

1 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जोधपुर राज्य का इतिहास भा –1 पृ 85–86
2 वी एस दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 196

प्रमाणित होता है।"[1] चन्द्रसेन जोधपुर पर मुगल अधिकार होने के बाद भाद्राजूण गिरि की ओर चला गया किन्तु मुगल सेना के द्वारा पीछा किए जाने के कारण वह अपना स्थान बदलते हुए भागता रहा और उसने अनेक कष्ट सहे।

डा टाड ने उदयसिंह के इस कृत्य की निंदा करते हुए कहा है कि 'बादशाह अकबर से उदयसिंह को बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त थीं। उदयसिंह का शरीर मोटा था और उसकी बुद्धि भी मोटी थी। उसे लोग मोटा राजा कहते थे। उदयसिंह जोधाराव का अयोग्य वंशज था और अपनी अयोग्यता के कारण ही उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हुई।[2] 1564 से 1583 तक जोधपुर पर मुगल अधिकार बना रहा जिसके बाद अकबर ने जोधपुर का राज्य उदयसिंह को वापस दे दिया क्योंकि उदयसिंह ने अपनी पुत्री का विवाह शाहजादा सलीम से कर अधीनता स्वीकार कर ली थी।

अकबर का नागौर दरबार—जोधपुर पर मुगल अधिकार होने के बाद अकबर अपनी राजपूत नीति को क्रियान्वित करने हेतु अपनी अजमेर यात्रा के समय 1570 में नागौर आया और वहाँ काफी समय तक रहा और राजस्थान के प्रमुख राजाओं का दरबार किया। नागौर में अकबर ने अकाल राहत हेतु शुक्र तालाब नामक तालाब बनवाया।[3] डा गोपीनाथ शर्मा ने नागौर निवास के समय अकबर के मन्तव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि "इस कार्य में अकबर के दो काम सध गए। एक तो दुष्काल निवारण की योजना का आरम्भ करना और दूसरा लम्बे समय तक नागौर में ठहरकर राजनीतिक परिस्थिति का अध्ययन करना। वास्तव में अकबर का वहाँ रहना एक प्रकार से मुगल हित में रहा। अकबर ने उधर मेवाड़ के विरुद्ध कार्यवाही करने की योजना बना ली थी। वह चाहता था कि किसी प्रकार राजपूत राजाओं में फूट हो जाए तो एक एक से अलग अलग निपटना आसान होगा। इसी उद्देश्य से वह नागौर में विश्राम करता रहा। यहाँ कई नरेश जिनमें बीकानेर और जैसलमेर के नरेश मुख्य थे अकबर से मिलने को पहुँचे।'[4] अबुल फजल ने लिखा है कि "आमेर द्वारा जो वैवाहिक सम्बन्ध का क्रम आरम्भ किया गया था उसी का अनुसरण कर बीकानेर व जैसलमेर के शासकों ने भी अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़े। राव चन्द्रसेन उदयसिंह राम आदि भी अपनी स्थिति सुधारने के लिए वहाँ उपस्थित हुए।[5] इससे स्पष्ट होता है कि चन्द्रसेन भी अकबर के समक्ष नागौर में उपस्थित हुआ था।

चन्द्रसेन का नागौर से वापस चले जाना (Chandrasen Left Nagore)—3 नवम्बर 1570 को चन्द्रसेन भी अपनी स्थिति को सुधारने की आशा में नागौर अकबर के दरबार में उपस्थित हुआ। अकबर को 1569 से 1570

1 4 पूर्वोद्धृत पृ 328 329
2 टॉड राजस्थान का इतिहास पृ 373
3, 5 अकबरनामा, भाग-2 पृ 518

अवधि मे चन्द्रसेन के आर्थिक कष्टों म दर दर भटकने व अपने पूवजो के रत्न बेचकर अपनी सेना का खच चलाने की खबरें प्राप्त होती रही थी। राम व उदयसिंह पहले से ही अकबर की अधीनता म रह रहे थे। यद्यपि अकबर ने चन्द्रसेन को राजा जैसा सम्मान दिया किन्तु उसे कोई आश्वासन नहीं दिया और न राम व उदयसिंह को ही जोधपुर राज्य लौटाने का वचन दिया। अत अपनी आशा पूण न होने देख तथा अपने विरोधियो के सामने अकबर द्वारा उपेक्षित समझ कर चन्द्रसेन नागौर म से चला गया किन्तु अपने पुत्र रायसिंह को अकबर से वार्ता हेतु पीछे छोड़ गया। अकबर चन्द्रसेन के इस प्रकार नागौर से वापस चले जाने पर अत्यत क्रुद्ध हुआ और उसने रायसिंह को वापस लौटा कर चन्द्रसेन का दमन करने का सकल्प किया। उसने राजपूत नरेशो म फूट डाल कर अपना आधिपत्य स्थापित करने की नीति की दृष्टि से बीकानेर के राजा रायसिंह को जोधपुर राज्य का सरक्षक बना दिया तथा चन्द्रसेन का पीछा करते रहने के आदेश अपनी सेना को दिए।

चन्द्रसेन द्वारा नागौर छोडकर जाने के निम्नांकित कारण थ—

(i) नागौर छोडने के तात्कालिक कारण का आभास जोधपुर की ख्यात' से होता है जिसम उल्लेख है कि अकबर ने चन्द्रसेन से परिहास म कहा था म काले आदमियो से नही मिलता क्योंकि इससे मेरा दिन भी काला हो जाएगा। इस ताने से रुष्ट होकर चन्द्रसेन नागौर दरबार छोडकर चला गया।

(ii) चन्द्रसेन का अकबर ने सम्मान तो किया किन्तु उसे जोधपुर का राजा नहीं माना।

(iii) मुगल दरबार म चन्द्रसेन ने देखा कि उसके भाई उदयसिंह को काफी महत्त्व दिया जा रहा था जिससे चन्द्रसेन को विश्वास हो गया कि उदयसिंह को अकबर का समथन मिल जाएगा।

(iv) 'उदयसिंह ने मुगल दरबार म विरोधी वातावरण उपस्थित कर दिया था और शत्रुओं के बीच चन्द्रसेन अपने आपको बडी खिसियाई हुई स्थिति म पाता था। उसका एक भी मित्र दरबार म नही था अत उसने वहाँ रहना व्यथ समझा।[1]

(v) "चन्द्रसेन ने देखा कि अकबर एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध खडा कर अपना स्वाथ सिद्ध करना चाहता है वह अकबर के दरबार से चल दिया।"[2]

(vi) चन्द्रसेन मे आत्म सम्मान व गौरव की भावना थी। वह अन्य राजाओ की भाँति अकबर म वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपना हित साधन न करना चाहता था बल्कि आत्म सम्मान हेतु कष्ट सहना पसन्द करता था।

1 डॉ एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 199
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 329

नागौर के इस अकबर दरबार के महत्त्व को बतलाते हुए डा. गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि "मारवाड की परतन्त्रता की कडी में नागौर दरबार' एक बहुत बडी कडी थी। यहाँ किए गए निर्णय अकबर की भावी नीति के आधार बने। उसने अब चन्द्रसेन को पराजित करने का संकल्प कर लिया और अन्य भाइयों का प्रलोभन देकर अपना अनुयायी बना लिया। जो नरेश यहाँ के दरबार में उपस्थित नहीं हुए थे उनकी मनोवृत्ति का समुचित रूप में परीक्षण हो गया। यहाँ से राजपूत नरेशों का स्पष्ट वर्गीकरण—विरोधी और मित्र राज्य के रूप में हो गया।[1]

चन्द्रसेन द्वारा साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध

अत्यन्त आर्थिक संकटों को सहन करते हुए चन्द्रसेन ने मुगल सेना का जगह-जगह भटकते हुए कडा प्रतिरोध किया। 1565 में जोधपुर छोडकर वह भाद्राजूण रहा किन्तु मुगल सेना से घिर जाने पर उसने सिवाना में मोर्चा लगाया। मोजत के कल्ला रावल सुखराम सूजा व देवीदास ने चन्द्रसेन का साथ दिया। मुगल सेना के पीछा करने पर चन्द्रसेन रामपुरा के पहाडों पीपलोद व काणूजा के पहाडों में प्रतिरोध करते हुए जोधपुर व महाजनों को लूटता रहा। इससे मारवाड के लोग उससे अप्रसन्न हो गए। फिर वह मारवाड छोडकर मेवाड सिरोही डूंगरपुर व बाँसवाडा गया किन्तु मुगल सेना ने उसका पीछा न छोडा। उसने अजमेर तक छापे डाले व 1579 में उसने सोजत व सारण पर अधिकार किया किन्तु मुगल सेना ने उसे सारण के पहाडों की ओर भगा दिया। अन्त में सिचियाई के पहाडों में रहते हुए 11 जनवरी 1581 ई में उसकी मृत्यु हो गई।

राव चन्द्रसेन का मूल्यांकन—राणा प्रताप से तुलना

इतिहासकारों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से चन्द्रसेन का मूल्यांकन किया है। उसे मारवाड का भूला हुआ नायक (Forgotten Hero of Marwar) भी कहा जाता है क्योंकि अपना राज्य खोकर व अनेक कष्टों को सहन करता हुआ वह मुगलों का प्रतिरोध करता रहा। प. रेऊ ने उसकी राणा प्रताप से तुलना करते हुए कहा है कि "जिस प्रकार प्रताप को अपने बन्धु बांधवों का विरोध सहना पडा और व जिस प्रकार मुगल दरबार के सदस्य बन गए उसी प्रकार चन्द्रसेन के बान्धवों की स्थिति थी। जिस प्रकार प्रताप ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा हेतु मुगल अधीनता स्वीकार न की उसी प्रकार चन्द्रसेन भी आजन्म अकबर से टक्कर लेता रहा। प्रताप की भाँति चन्द्रसेन के पास भी मारवाड के कई भाग अधिकार में नहीं थे। जब प्रताप ने चित्तौड मंडलगढ़ आदि स्थानों को अन्त तक लेने में सफलता प्राप्त नहीं की उसी प्रकार चन्द्रसेन भी जोधपुर का दुर्ग न ले सका। चन्द्रसेन ने बाँसवाडा आदि के पहाडी प्रदेशों की उसी भाँति शरण ली जिस प्रकार प्रताप ने छप्पन के पहाडों की ली थी।'[2]

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 329
2 प. विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड का इतिहास

डा गोपीनाथ शर्मा ने इस तुलना पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि "दोन (प्रताप व चन्द्रसेन) की गतिविधि में अन्तर है। राव चन्द्रसेन ने मारवाड़ के एक पहाडी भाग से दूसरे पहाड़ी भाग में रहकर मुगलों को अवश्य छकाया था परन्तु वह कहीं खुलकर (हल्दीघाटी जैसा) उनसे युद्ध न कर सका। पहाड़ी विचरण के साथ साथ प्रताप ने जन जागरण द्वारा मेवाड़ में नव जीवन को सचारि किया यह स्थिति चन्द्रसेन पैदा न कर सका। वह तो पहाड़ों में रहते हुए मारवाड़ में ही लूट खसोट करता था। चन्द्रसेन को स्वदेश छोड़कर सिरोही मेवाड डूगरपुर बांसवाड़ा आदि स्थानों की शरण लेनी पड़ी। इसके विपरीत प्रताप की नीति राज्य को सुरक्षित रखने की थी। चन्द्रसेन का धन और जन की कमी प्रारम्भ से अन्त तक बनी रही ऐसी स्थिति कभी प्रताप की नहीं रही।[1]

डा वी एस भार्गव का मत है कि इस प्रकार एक भुला दिए गए नायक के जीवन का अन्त हुआ जो अपनी मातृभूमि को अपना रक्त देकर भी स्वतन्त्र करना चाहता था और बढ़ती हुई मुगल शक्ति के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखना चाहता था। जी एस दिवाकर का कथन है राव चन्द्रसेन अपने शासन के पूरे 19 वर्ष तक अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए लड़ता रहा और अन्त में उसने अपने देश की प्रजाजनों के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। जीवन भर अपने पूर्वजों के गौरव को प्राप्त करने के लिए वह छटपटाता रहा। किन्तु उसकी चेष्टाए विफलता के अथाह सागर में डूबती गई और भाइयों की आपसी फूट मारवाड़ की पराधीनता का कारण बन गई।[3] इन कथनों से चन्द्रसेन के चरित्र की मनस्विता व वीर प्रकृति का परिचय मिलता है।

महाराणा प्रताप
(Maharana Pratap)

महाराणा प्रताप के पूर्व मेवाड द्वारा साम्राज्यिक शक्ति का प्रतिरोध

पूर्व में राणा सांगा द्वारा साम्राज्यिक शक्ति के प्रतिरोध का विवरण दिया जा चुका है। सांगा की मृत्यु के बाद मेवाड़ की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। राणा सांगा के बाद रत्नसिंह (1528–1531) विक्रमादित्य (1531–1536) व बणवीर (1536–1537) क्रमशः मेवाड़ की गद्दी पर बैठे जिनके 10 वर्ष के शासनकाल में परस्पर विद्रोह हत्याओं व पराजय की घटनाओं से महाराणा कुम्भा व सांगा की साम्राज्यिक शक्ति की प्रतिरोधात्मक गौरवशाली परम्परा को काफी धक्का लगा। रत्नसिंह के राज्य काल में हाडी रानी कर्मावती द्वारा बाबर को रणथम्भौर दुर्ग सौंपने का प्रयास करना यदि वह (बाबर) उसके पुत्र विक्रमादित्य को चित्तौड़ की गद्दी पर बिठा दे एक अशोभनीय घटना था। विक्रमादित्य के राज्य काल में बहादुरशाह के आक्रमणों से मेवाड़ की धन जन की

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 331–32
2 *D V S Bhargava* Marwar and the Mugal Emperors
3 पूर्वोक्त पृ 194

हानि हुई। कुंवर पृथ्वीराज के अनौरस पुत्र वणवीर द्वारा विक्रमादित्य की हत्या कर राज्य गद्दी हड़प ली गई। वह विक्रमादित्य के भाई उदयसिंह को भी मारना चाहता था किन्तु पन्नाधाय के प्रयास से उदयसिंह को बचा लिया गया तथा अन्त में उसे मेवाड़ का शासक बना दिया गया। इन दस वर्षों की अवधि में मेवाड़ की स्थिति बिगड़ गई थी जिसे राणा उदयसिंह ने पुनः उन्नत किया।

महाराणा उदयसिंह द्वारा प्रतिरोध

महाराणा उदयसिंह ने 1540 में गद्दी पर बैठने के बाद मारवाड़ के शासक मालदेव के आक्रमण को विफल कर बन्दी में अपने आश्रित सुजन हाड़ा को गद्दी पर बिठाकर तथा राजपूत सरदारों व राजाओं से मित्रता कर मेवाड़ को शक्तिशाली बनाया। उसने 1543 में शेरशाह के चित्तौड़ आक्रमण को कूटनीति से टाल दिया तथा अजमेर के अफगान हाकिम हाजी खाँ पठान को परास्त किया। उसने उदयपुर नगर व उदय सागर का निर्माण भी कराया।

राणा उदयसिंह ने मालवा के शासक बाज बहादुर व मेड़ता के जयमल को अपने यहाँ शरण दी थी अतः अकबर ने चित्तौड़ पर आक्रमण की तैयारी की। सरदारों के परामर्श से उदयसिंह चित्तौड़ की रक्षा का भार जयमल को सौंप कर उदयपुर चला गया। इस कार्य को डा. गोपीनाथ शर्मा ने उचित मानकर कहा है कि—'चित्तौड़ छोड़ने के पीछे एक नीति थी और उसमें एक नई चाल थी। यह उदयसिंह की नई चाल आगे चलकर महाराणा प्रताप और राजसिंह ने भी अपनाई थी क्योंकि उसमें तर्क था और तथ्य भी।"[1] मुगल सेना के विरुद्ध पहाड़ियों में रह कर ही छापामार युद्ध प्रणाली कारगर रही।

23 अक्टूबर, 1567 को अकबर ससैन्य चित्तौड़ पहुंचा और दुर्ग को घेर लिया। साबात सुरंगें तथा बुर्जों के पास मोर्चे खोलने से अकबर को दुर्ग अधिकृत करने में सफलता मिली। जयमल मारा गया, राजपूतों ने फाटक खोल केसरिया बाना पहन कर युद्ध करते हुए वीर गति पाई तथा दुर्ग में स्त्रियों ने जौहर किया। 25 फरवरी 1568 को किले पर पूर्ण अधिकार मुगलों का हो गया। अकबर ने वीर जयमल और पत्ता की मूर्ति आगरा किले के द्वार पर लगाकर उनके शौर्य की प्रशंसा की।

चित्तौड़ पतन के बाद गोगुन्दा में महाराणा उदयसिंह का 28 फरवरी, 1572 ई. को देहान्त हो गया।

महाराणा प्रताप का प्रारम्भिक परिचय

उदयसिंह के पुत्र प्रताप का जन्म 9 मई 1540 ई. में जयवंताबाई (अखयराज सोनगरा की पुत्री) के गर्भ से हुआ था। वे 32 वर्ष की आयु में 1 मार्च, 1572 ई. को मेवाड़ की गद्दी पर बैठे। श्यामलदास इनके राज्यारोहण की तिथि 28 फरवरी, 1572 ई. बताते हैं।[2] इन्होंने 25 वर्ष तक राज्य किया। उदयसिंह

1 पूर्वोद्धृत पृ 281

2 श्यामलदास : वीर विनोद भाग 2, p 145

ने अपनी मृत्यु के पूर्व अपनी प्रिय भयाणी रानी के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। अतः उदयसिंह की मृत्यु के बाद सलूम्बर के किशनदास और देवगढ के सांगा ने गुप्त रूप से जगमाल को गद्दी पर बैठा दिया किन्तु ग्वालियर के रामसिंह और जालौर के अक्षयराज ने प्रताप का गोगुन्दा में राज्याभिषेक कर दिया। जगमाल ने अकबर से जहाजपुर व सिरोही का आधा राज्य प्राप्त कर लिया और 1583 ई. में अपनी मृत्यु पर्यन्त अकबर की सेवा में रहा।

राणा प्रताप को सिंहासनारूढ होते ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। डॉ. रघुवीर सिंह के शब्दों में— राज्यारूढ होते ही राणा प्रताप ने स्पष्टतया मुगल विरोधी नीति अंगीकार की और जो मेवाड के ही नहीं राजस्थान के इतिहास में भी एक महत्त्वपूर्ण परम स्फूर्तिदायक अध्याय प्रारम्भ हुआ जो कठोर पराधीनता के गहरे निराशापूर्ण दुखमय दिनों में राजस्थान के साथ ही समूचे भारत को स्वाधीनता के लिए सर्वस्व बलिदान कर उसकी निरन्तर अडिग साधना का पाठ पढ़ाता रहा।[1] यह सकल्प प्रताप के जीवन से प्रकट होता है।

महाराणा प्रताप व अकबर के सम्बन्ध

महाराणा प्रताप व अकबर के सम्बन्ध एवं मुगल साम्राज्यवादी शक्ति का प्रताप द्वारा प्रतिरोध को समझने के पूर्व मेवाड की तत्कालीन दशा एवं प्रताप के सकल्प तथा अकबर का उसके प्रति नीति का सिंहावलोकन करना वांछनीय होगा। राणा सांगा के समय जो प्रभाव व राज्य विस्तार मेवाड का था वह पिछले 20 वर्षों के तीन राजाओं के प्रभावहीन शासन काल में घटता गया। अकबर ने चित्तौड जीतकर तो मेवाड की प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुंचाया था। माण्डलगढ़ जहाजपुर और चित्तौड मेवाड के अधीन नहीं रहे थे। गुजरात और मालवा के स्वतन्त्र राज्य भी समाप्त हो गए थे और अब इन पर अकबर का साम्राज्य था। जोधपुर या मारवाड राज्य जो एक पडौसी व रिश्तेदार राज्य था अब मेवाड के शत्रुओं के हाथ में आ गया था। आमेर बीकानेर और जैसलमेर के राजाओं ने अपनी लडकी अकबर को ब्याह दी थी या अधीनता स्वीकार कर ली थी। ऐसी परिस्थिति में प्रताप ने आजीवन अकबर से लोहा लेकर मेवाड के गौरव को ही नहीं बढ़ाया वरन् पराधीनता की बेडियों में बंधकर स्वतन्त्रता के प्रति अपनी अटूट श्रद्धा समर्पित कर भारत के देशभक्तों में अपना स्थान सदा के लिए सुरक्षित करा लिया। प्रताप का लक्ष्य मेवाड के पराधीन भाग को स्वतन्त्रता दिलाना और चित्तौड पर पुनः अधिकार करना था। अतः राणा प्रताप ने मुगलों से संघर्ष का मार्ग ही अपनाया और इसके लिए उसने अपने सामन्तों और भीलों को इस संघर्ष हेतु संगठित किया। उसने अपना निवास स्थान गोगुन्दे में बदल कर कुम्भलगढ़ बना लिया।

1 डा. रघुवीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान p 39

अकबर की राजपूत नीति एवं प्रताप की उससे वितृष्णा का उल्लेख करते हुए डा वी एस भार्गव का कथन है कि— अकबर राजपूतों के संगठन का प्रयोग सम्पूर्ण भारत के राज्य की दृढ़ता के लिए करना चाहता था। वह यह समझ चुका था कि यदि उसके नेतृत्व में संगठित मुगल राज्य की स्थापना करनी है तो राजपूतों का सहयोग वांछनीय होगा फिर भी जिस राज्य की कल्पना अकबर कर रहा था उसमें प्रताप अपना स्थान सम्मानित नहीं मानता था। वह अपने वंश गौरव की व्यक्तिगत विशुद्ध स्थिति का अधिक महत्व देता था। वह अपने राज्य को एक इकाई के रूप में रखकर अपने राज्यत्व की प्रतिष्ठा को उच्च बनाए रखने में श्रेय समझता था बजाय इसके कि वह एक मुगल राज्य का आश्रित सामन्त हो जो अपने अधिकारों की मान्यता दिल्ली में प्राप्त करे। अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए बाध्य होने की सम्भावना से भी प्रताप में एक स्वाभाविक अरुचि थी। वह नहीं चाहता था कि मेवाड़ की परम्परा तोड़ने का कलंक उसके सिर मढ़ा जाए।'[1] अकबर ने राणा प्रताप को अपनी अधीनता में लाने के लिए अनेक प्रयत्न किए किन्तु उसे सफलता न मिली।

अकबर के आदेश से मानसिंह की भेंट प्रताप से जून 1573 ई में उदय सागर तालाब के किनारे प्रताप द्वारा दिए गए भोज के अवसर पर हुई किन्तु प्रताप के भोज में सम्मिलित न होने पर अपमानित समझकर मानसिंह वहाँ से रुष्ट होकर वापस चला गया। मानसिंह ने इस अपमान का बदला शीघ्र लेने की धमकी भी दी। इसके बाद अकबर ने आमेर के राजा भगवानदास तथा टोडरमल को भी भेजा था किन्तु सफलता न मिली। डा गोपीनाथ शर्मा प्रताप व मानसिंह की इस भेंट का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मानते बल्कि इसे भाटों व चारणों की कल्पना मात्र कहा है। अस्तु जब अकबर के शान्तिपूर्ण प्रयत्नों से जब प्रताप का हृदय परिवर्तन न हुआ तो उसने युद्ध का मार्ग अपनाया। हल्दीघाटी का युद्ध एवं परवर्ती मुगल मेवाड़ संघर्ष इसी के परिणाम थे।

हल्दीघाटी का युद्ध (21 जून, 1576)
(Battle of Haldighati)

अकबर ने आमेर के राजा भगवान दास के पुत्र मानसिंह को एक विशाल सेना के साथ राणा प्रताप के विरुद्ध मेवाड़ भेजा। मानसिंह राणा प्रताप द्वारा स्वयं के अपमान का बदला भी लेना चाहता था। मानसिंह के साथ राणा प्रताप का छोटा भाई शक्तिसिंह भी रुष्ट होकर आ मिला था। मानसिंह ने मेवाड़ में खमणोर के निकट हल्दीघाटी के पास बनास नदी के तट पर अपना शिविर स्थापित किया। राणा प्रताप भी पूरी तैयारी कर हल्दीघाटी में आ डटा। जून, 1576 ई में हल्दीघाटी का प्रसिद्ध युद्ध हुआ। महाराणा की सेना में पठान शाहजादा हकीम सूर, ग्वालियर का राजा रामशाह तँवर, भामाशाह झालाबीदा, सोनगरा मानसिंह

1 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास, पृ 133

आदि वीर योद्धा थे। मुगल सेना में इतिहासकार बदायूनी भी था जिसने इस युद्ध का विवरण लिखा है। राणा प्रताप ने मुगलों पर भीषण आक्रमण किया और मुगल सेना के पैर उखड़ने ही वाले थे कि बारहा सैयदों की वीरता से मुगल सेना डटी रही। राणा प्रताप ने अपने घोड़े चेतक को मानसिंह के हाथी के पास ले जाकर आक्रमण किया किन्तु चेतक जख्मी हो गया। राणा को शत्रु सेना में घिरा हुआ देख कर झाला सरदार बीदा ने शीघ्र पहुंच कर राजकीय छत्र अपने सिर पर धारण कर लिया और युद्ध करने लगा और हकीम सूर राणा को युद्ध भूमि से हटा कर घाटी के मुहाने पर ले आया। इसी समय शक्तिसिंह व राणा का सम्मिलन हुआ। झाला बीदा के आत्म बलिदान के साथ ही हल्दीघाटी के युद्ध में मुगलों की विजय हो गयी। मानसिंह गोगूंदे में खेमे डाल पड़ा रहा। उधर राणा प्रताप अगले संघर्ष के लिए तैयारी में जुट गया। अकबर स्वयं गोगूंदा आया। उसने शाहबाजखां को कुम्भलमेर दुर्ग को जीतने भेजा जिसमें वह सफल हुआ।

1578 तथा 1579 ई. में शाहबाजखां को पुनः राणा प्रताप के विरुद्ध भेजा गया किन्तु दर दर की ठोकरें खाते हुए भी राणा प्रताप ने धैर्य न छोड़ा। एक दिन घास की रोटी भी उसके पुत्र के हाथ से वनबिलाव छीनकर भाग गया। इस कारुणिक दृश्य से प्रताप के हृदय को काफी वेदना पहुंची। अकबर के दरबार में रहने वाले बीकानेर के राजकुमार कवि पृथ्वीराज राठौर ने जब अकबर से यह सुना कि प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार करना चाहते हैं तो उसने प्रताप को लिखा—

पातल जो पतसाह बोलै मुख हूं तो बयाण।
मिहिर पछम दिस माँह उगे कासव राव उत्तर।।
पटकूं मूछां पाण कै पटकूं निज तन करद।
दीजे लिख दीवाण इण दो महली बात इक।।

कवि पृथ्वीराज राठौर के इन प्रेरणादायक शब्दों ने राणा प्रताप को प्रोत्साहित किया और उन्होंने पृथ्वीराज को अपनी प्रतिज्ञा पर मर मिटने का आश्वासन दिया। प्रताप के मंत्री भामाशाह ने भी इस आर्थिक संकट के समय काफी संचित धन राशि देकर अपूर्व त्याग का परिचय दिया। चावण्ड को राजधानी बना प्रताप पुनः सेना संगठित कर मुगल सेनानायकों को मेवाड़ से निकाल बाहर करने का प्रयास करने लगे। उन्होंने मुगल सेनापति शाहबाजखां को युद्ध में मार डाला तथा अब्दुल्लाखां को पराजित कर कुम्भलगढ़ को पुनः अधिकृत किया। 1585 ई. में जगन्नाथ कछवाहा के अधीन मेवाड़ में अंतिम मुगल सैनिक अभियान किया गया क्योंकि अकबर का ध्यान पंजाब की ओर आकृष्ट हो गया था और उसे मेवाड़ के लिए समय नहीं मिला। राणा प्रताप ने अजमेर, माण्डलगढ़ तथा चित्तौड़ के अतिरिक्त समस्त मेवाड़ से मुगलों को निकाल दिया और अपना अधिकार कर लिया। 1597 ई. में राणा प्रताप की मृत्यु हो गयी। मृत्यु के पूर्व

व अपने पुत्र अमरसिंह की अयोग्यता के कारण मेवाड के लिए चिंतित थे, अत जब उनके राजपूत सरदारों ने मेवाड का स्वाधीनता संग्राम निरन्तर चलाए रखने का आश्वासन दिया तो राणा सन्ताप से प्राण त्याग सके। राणा प्रताप की वीरता का कर्नल टाड ने इस प्रकार वर्णन किया है— अरावली की पर्वत श्रेणियों म कोई ऐसी घाटी नहीं जिसे कि प्रताप ने अपने वीर कार्यों कोई उल्लेखनीय विजय तथा बहुधा गौरवमयी पराजय से पवित्र न किया हो। मेवाड म हल्दीघाटी थर्मोपल्ली के तथा देवारी मराठन के समान रण क्षेत्र हैं।[1]

1599 ई म अकबर ने शाहजादा सलीम तथा राजा मानसिंह को पुन मेवाड पर आक्रमण करने हेतु भेजा। राणा अमरसिंह पराजित हुआ किन्तु बंगाल म विद्रोह दमन के लिए मानसिंह को अकबर द्वारा बुला लिए जाने के कारण मेवाड पर यह अभियान अपूर्ण रहा। महाराणा प्रताप का देहान्त चावण्ड म 29 जनवरी 1597 ई को हुआ।

महाराणा प्रताप का मूल्यांकन

महाराणा प्रताप की सैनिक उपलब्धियों एव मुगल साम्राज्यिक शक्ति के विरुद्ध प्रतिरोध का मूल्यांकन विभिन्न इतिहासकारों ने किया है जिनमें म कुछ के मत विशेष उल्लेखनीय है। डा रघुबीर सिंह के अनुसार— प्रताप ने अ त तक अपना प्रण निभाया। उसकी दृढ़ता धीरज अडिग आत्म विश्वास तथा अनवरत प्रयत्न ससार के इतिहास म अनोखे और अनुकरणीय है।'[2] डा गौरीशंकर हीरानन्द ओझा के शब्दों म— प्रात स्मरणीय हिन्दूपति वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास म सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवास्पद है। राजपूताने के इतिहास को इतना उज्ज्वल और गौरवमय बनाने का अधिक श्रेय उसी को है।[3] डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि— प्रताप का नाम हमारे देश म स्वाभिमान और देश गौरव के रक्षक के रूप म अमर है। स्वतन्त्रता का महान् स्तम्भ होने के नाते सद्कार्यों के समर्थक होने और नैतिक आचरण का वीर होने के कारण आज भी प्रताप का नाम असंख्य भारतवासियों के लिए आशा का बादल है और ज्योति का स्तम्भ है।[4]

वी एस दिवाकर का कथन है कि— राणा प्रताप एक महान् हिन्दू नायक ही नहीं बल्कि हिन्दू सम्मान और प्रतिष्ठा का सफल रक्षक भी था।" प्रताप ने अपने निर्वासन काल म अनेक कष्ट सहे जिनसे उसका चरित्र और गौरव दोनों आज भी शोभान्वित हैं।[5] महाराणा प्रताप की मृत्यु पर उसके कट्टर शत्रु अकबर ने

1 टाड राजस्थान का इतिहास
2 डॉ रघुबीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान
3 गौरीशंकर हीरानन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग 1, p 472-74
4 पूर्वोक्त, p 295
5 वी एस दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 169

भी आँसू बहाये थे। अकबर की यह भावना मुगल दरबार में उपस्थित प्रसिद्ध चारण कवि दुरसा आढ़ा ने इस प्रकार व्यक्त की थी—

'गहलोत राण जीत गयो दसण मूंद रसणा डसी।
नी सास मूक भरिया नयन तो मृत शाह प्रताप सी।'

अर्थात् 'हे प्रताप! तेरी मृत्यु पर शाह अकबर ने दाँतों के बीच जीभ दबाई निःश्वास छोड़े। उसकी आँखों में आँसू भर आए। गहलोत राणा तेरी ही विजय हुई।' बी एल पानगड़िया के अनुसार— वीर शिरोमणि प्रताप के व्यक्तित्व को भला इससे बड़ी श्रद्धान्जलि और क्या हो सकती है।'[1] वस्तुत महाराणा प्रताप एक राष्ट्र नायक थे। वे भारतीय संस्कृति के प्रतीक थे। उनका त्याग, बलिदान शौर्य, सहिष्णुता और स्वातन्त्र्य प्रेम आज भी अनुकरणीय है।

---

1 बी एल पानगड़िया राजस्थान का इतिहास p 19

5 मुगलों से सहयोग की नीति—आम्बेर, बीकानेर व जोधपुर की भूमिका

(Policy of Collaboration with the Mughals–Role of Amber, Bikaner and Jodhpur)

मुगलों से सहयोग की नीति—अकबर की राजपूत-नीति परिणाम
(Policy of Collaboration with the Mughals—Result of Akbar's Rajput Policy)

गत अध्याय में अकबर के नागौर दरबार के संदर्भ में अकबर की राजस्थान के राजपूत शासकों के प्रति नीति का प्रसंगानुकूल उल्लेख किया जा चुका है। डा. गोपीनाथ शर्मा ने इस दरबार का महत्त्व प्रकट करते हुए कहा है कि 'यहाँ कई नरेश, जिनमें बीकानेर और जैसलमेर के नरेश मुख्य थे, अकबर से मिलने को पहुँचे। आमेर द्वारा जो वैवाहिक सम्बन्ध का सिलसिला आरम्भ हो गया था उसके पद चिह्नों पर चलकर बीकानेर तथा जैसलमेर के शासकों ने अकबर से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़े। जो नरेश यहाँ आए थे वे एक प्रकार से आश्रित और समर्थकों की सूची में गिने जाने लगे। जो नरेश यहाँ के दरबार में उपस्थित नहीं हुए थे उनकी मनोवृत्ति का समुचित रूप से परीक्षण हो गया।"[1] अधीनता स्वीकार न करने वाले मारवाड़ के शासक चन्द्रसेन व मेवाड़ के राणा उदयसिंह व प्रताप के विरुद्ध उसने आक्रामक नीति अपनाई किन्तु अधीनता स्वीकार करने वाले नरेशों व सामन्तों को उसने उच्च पदों पर आसीन कर उन्हें अपने साम्राज्य विस्तार के कार्य में सहायक बनाया। वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उसने उनकी अपने प्रति निष्ठा को सुदृढ़ बनाया।

अकबर की राजपूत नीति व उसके सुखद परिणामों का विवेचन करते हुए डॉ. वी. एस. भार्गव का कथन है कि "अकबर ने समझ लिया था कि राजपूतों के

1 डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, p. 329

साथ मुगल साम्राज्य की सेवा करता रहा।'[1] डा गोपीनाथ शर्मा ने इस विवाह के औचित्य को प्रकट करते हुए अपना मत प्रकट किया है कि 'यह तो सच है कि भारमल ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजपूत मर्यादा का उल्लंघन किया। परन्तु इस सम्पूर्ण घटना चक्र में हम भारमल के कार्यों का समर्थन भी पाते हैं। भारमल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ कराकर निश्चय कर विवेक बुद्धि का परिचय दिया। ऐसा करना समयोचित था।"[2] डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दों में निःसंदेह यह वैवाहिक सम्बन्ध ऐतिहासिक दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण था। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि इसके फलस्वरूप ही मुगल राजपूत गठबंधन को एक मुख्य आधार मिला। इस नीति का अनुसरण कर राजस्थान के अन्य शासकों ने भी अकबर से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाए।[3] भारमल की मृत्यु जनवरी 1573 में हो गई और उसका पुत्र भगवन्तदास गद्दी पर बैठा। अकबर ने उसे भारमल की भांति पंच हजारी मनसबदार बनाया। भगवन्तदास ने सरनाल के युद्ध में वीरता प्रदर्शित की व पंजाब के सूबेदार के रूप में रहा। उसकी मृत्यु लाहौर में 1589 ई में हुई। उसके बाद उसका पुत्र मानसिंह आमेर का शासक हुआ।

मानसिंह की मुगलों के प्रति की गई सेवाएँ
(Services Rendered by Man Singh to the Mughals)

प्रारम्भिक परिचय एवं सेवाएँ— अकबरनामा में अबुल फजल ने लिखा है कि मानसिंह 12 वर्ष की आयु से ही (1562 ई से) मुगल सेवा में प्रविष्ट हो गया था और अकबर के संरक्षण में रहकर उसने सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त कर अपनी वीरता व योग्यता का प्रदर्शन किया। कुंवर की हैसियत से उसकी सेवाएं निम्नांकित थीं—

(i) 1569 में रणथम्भौर दुर्ग पर आक्रमण के समय अकबर के साथ भगवन्तदास व उसका पुत्र मानसिंह थे। सुर्जन हाडा से वार्ता को संधि के रूप में सफल बनाने में पिता पुत्र दोनों का योगदान रहा।

(ii) 1572 में अकबर के आदेश से मानसिंह ने गुजरात से ईडर जाते हुए विद्रोही शेरखाँ के लड़कों को पराजित कर उन्हें लूटा।

(iii) अकबर के गुजरात अभियान में मानसिंह सेना की अग्रिम पंक्ति में रह कर बड़ा सरनाल के युद्ध में वीरता प्रदर्शित की तथा सूरत बन्दरगाह की रक्षा की।

(iv) 1573 में मानसिंह ने डूंगरपुर के रावल आसकरण को पराजित कर उसे लूटा तथा लौटते समय अकबर के आदेश से उसने मेवाड के राणा प्रताप से वार्ता की जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

1 डा रघुवीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान
2 पूर्वोद्धृत p 359
3 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास, पृ 100

(v) 1573 मे उसे पुन गुजरात भेजा गया किन्तु गुजरात विजय होने से उस भाग मे ही वापस बुला लिया गया और बिहार म दाऊदखां के विद्रोह दमन हेतु भेजा जिसम वह सफल रहा।

(vi) हल्दीघाटी युद्ध म मुगल सेनापति के रूप म—1576 म अकबर ने राणा प्रताप क विरुद्ध सेनापति के रूप म भेजा जिसका विस्तृत विवरण पिछले अध्याय म दिया गया है। हल्दी घाटी के युद्ध म मुगलो का पूर्ण सफलता न मिलने पर अकबर मानसिंह मे रुष्ट रहा किन्तु उसे क्षमा कर पुन अभियानो पर भेजा।

(vii) ताचीवाडे क विद्रोह का सफलता से दमन करने पर मानसिंह को अकबर न 3500 का मनसब प्रदान किया।

(viii) उत्तर पश्चिमी सीमात भाग का सूबेदार—1580-81 म मानसिंह न उत्तर पश्चिमी प्रान्त के सूबेदार के रूप म काबुल पर अधिकार कर अफगान विद्रोहियो का दमन किया। उस पच हजारी मनसब दिया गया।

(ix) 1587 म मानसिंह को बिहार का सूबेदार बनाया गया जहाँ वह 7 वर्ष रहा। उसन स्थानीय जमीदारो के विद्रोह का दमन किया।

आम्बेर के शासक के रूप में मानसिंह की सेवाएँ—अपने पिता भगवन्तदास की 1589 मे मृत्यु के समय मानसिंह बिहार का सूबेदार था। वह आमेर गया जहाँ उसका राज्यारोहण समारोह हुआ जिसम अकबर न टीका भेज कर उसका 5000 का मनसब पक्का कर दिया। पुन बिहार लौटकर उसन गिधौर के राजा को मुगल सत्ता के अधीन किया और सम्राट् को उसन बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट की। गिधौर के राजा न अपनी पुत्री का विवाह मानसिंह क भाई चन्द्रभान म किया। 1590 म मानसिंह न खडगपुर क राजा सग्रामसिंह शम्मपुर के सय्यदो व हाजीपुर के राजा गनपत को हराया व उनक प्रदेश का अधिकृत किया। मानसिंह के पुत्र जगतसिंह ने पूर्वी बिहार के पूर्णिया ताजपुर दरभगा आदि प्रदेशो पर हुए बगाल के सुल्तान कतलूखाँ के आक्रमण को विफल किया। बिहार के सूबेदार क रूप म 1590 से 1592 तक उसन अफगान विद्रोहियो का पीछा कर उडीसा पर भी अधिकार किया। उसन जलेश्वर को भी जीता।

1594 म मानसिंह को बगाल का सूबेदार बनाया गया। उसने पुरानी राजधानी टण्डा को छोडकर नई राजधानी का नगर राजमहल बनवाया। 1596 म उसन कूचबिहार क राजा लक्ष्मी नारायण को पराजित व अधीन बना कर उसकी बहिन प्रबलादेवी से विवाह किया। इसमे उस बगाल के अन्य भागो का अधिकृत कर वहाँ शान्ति स्थापित करने म सफलता मिली।

1596 म मानसिंह बीमार होने के कारण अजमेर म रह कर बगाल सूबे का काय देखता रहा जहाँ उसका प्रतिनिधि पुत्र जगतसिंह था। अजमेर रहते हुए वह अपने राज्य आमेर तथा शाहजादा खुसरो (जो उसका भानजा था) के हितो की

रक्षा कर सकता था तथा विद्रोही शाहजादा सलीम की गतिविधियों पर भी नजर रख सकता था। 1599 में उसके पुत्र जगतसिंह की मृत्यु होने पर उसे गहरा शोक हुआ। 1605 में अकबर की मृत्यु से मानसिंह का दिन और भी टूट चुका था। *1614* में एलीचपुर में उसकी मृत्यु हो गई। सलीम जब जहाँगीर के रूप में सम्राट बना तो उसका महत्त्व कम हो गया।

मानसिंह के व्यक्तित्व का मूल्यांकन—विभिन्न इतिहासकारों ने मानसिंह की मुगलों के प्रति की गई सेवाओं का मूल्यांकन भिन्न भिन्न दृष्टिकोण से किया है। सुखवीरसिंह गहलोत के शब्दों में "जीवन भर वफादारी से सेवा करने के बाद भी मानसिंह अपनी युवा बहिन और पोती का मुगल खानदान में विवाह करके भी बादशाह का पूर्ण विश्वासपात्र नहीं बन सका। जहाँगीर तो उससे घृणा करता था और उसे पाखण्डी भेड़िया ही कहता था।"[1] ओझा के अनुसार 'अकबर ने राजपूतों से विवाह सम्बन्ध जोड़कर तथा आमेर के राजा भगवानदास के भतीजे मानसिंह को अपना विश्वासपात्र बना कर मुगल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ कर ली। मानसिंह अकबर के विश्वासपात्र स्तम्भों में से एक था।'[2] कर्नल टाड का मत है कि राजा *भगवन्तदास व मानसिंह के समय कच्छवाहा लोगों ने अपने बल पराक्रम व वैभव की* प्रतिष्ठा की थी। मानसिंह बादशाह की अधीनता में था लेकिन उसके साथ काम करने वाली सेना बादशाह की सेना से अधिक शक्तिशाली समझी जाती थी।[3] डा रघुवीरसिंह के अनुसार 'मानसिंह के शासनकाल में आमेर राज्य की सीमाएँ पूर्ववत् बनी रहीं तथापि बंगाल बिहार की सूबेदारी के समय में मानसिंह के निजी ऐश्वर्य व सम्पत्ति में महान् वृद्धि हुई। इस राजघराने की अटूट समृद्धि का तभी से आरम्भ हुआ था।'[4] डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में "उसमें सैनिक क्षमता और *राजनीतिज्ञता का अच्छा सामंजस्य था। ... अपने पद को सम्भाल रखने की इतनी* लगन थी कि वह बहुत कम समय अपने पैतृक राज्य के लिए दे पाया था। ये वचन मानसिंह की प्रशासनिक सैनिक व कूटनीतिक योग्यता के द्योतक हैं।

कला संस्कृति व धर्म के क्षेत्र में भी उसकी अमूल्य देन रही है जिसका उल्लेख आगामी अध्यायों में यथा प्रसंग किया जाएगा। यहाँ फर्ग्युसन के ये शब्द उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा कि 'मानसिंह के पास कई कवि व पंडित आश्रय पाते थे। वह कला पारखी व साहित्य संरक्षक था। ... नगरों तथा महलों जलाशयों व मंदिरों के निर्माण में मानसिंह राजपूत राजाओं में सबसे आगे था।'

अन्य आमेर के शासकों की मुगलों से सहयोग की नीति

(1) **मिर्जा राजा जयसिंह** *(1621-1667)—मानसिंह की मृत्यु के बाद* भावसिंह (1614-1621) आमेर का शासक बना। उसकी मृत्यु के बाद उसका

1 सुखवीरसिंह राजस्थान का संक्षिप्त इतिहास
2 ओझा जयपुर राज्य का इतिहास
3 टॉड राजस्थान का इतिहास
4 *डॉ रघुवीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान*

KEAMS

भतीजा (महासिंह का पुत्र) जयसिंह शासक बना। उसने जहांगीर शाहजहां व औरंगजेब के समय अपनी सेवाएँ देकर आमेर का गौरव बढ़ाया। 1623 मे अहमद नगर की रक्षार्थ लड रहे मलिक अम्बर के विरुद्ध तथा 1625 म दलेलखाँ पठान के विरुद्ध युद्ध म वीरता प्रदर्शित की। शाहजहाँ के राज्यकाल मे उसने महाबत के जारा का विद्रोह दमन किया 1629 मे उजबेगो का विद्रोह दमन किया तथा 1630 मे 1636 तक दक्षिण अभियान म वीरता से युद्ध किए। 1647 व 1649 से 1653 तक उसने शाहजहा के मध्य एशियाई अभियान मे अपनी वीरता दिखाई। उत्तराधिकार के युद्ध मे उसन औरंगजेब का साथ देकर शुजा व दारा को पराजित कर अपना रण कौशल व कूटनीतिज्ञता का परिचय दिया। दक्षिण म मराठो के विरुद्ध उसने कूटनीति से शिवाजी स 1665 मे पुरन्धर की सधि कर शिवाजी को आगरा ले जान मे सफलता मिली किन्तु उसके पुत्र द्वारा शिवाजी को आगरा से भगान मे सहायता देने पर उसे औरंगजेब की अप्रसन्नता का सामना करना पडा। 1665 म उस दक्षिण का सूबेदार बनाया गया किन्तु 1666 मे बीजापुर पर आक्रमण विफल रहा। 1667 मे बुरहानपुर के पास जयसिंह का देहान्त हो गया।

(ii) जयसिंह द्वितीय (1700–1743)—मिर्जा राजा जयसिंह के बाद उसका पुत्र रामसिंह आमेर की गद्दी पर बैठा। आरम्भ म शिवाजी के मामले म वह औरंगजेब का कोपभाजन बना जिसके कारण उस दूरस्थ सूबे आसाम मे नियुक्त किया गया जहाँ उसकी मृत्यु 1668 मे हुई। उसके बाद उसका पौत्र बिशनसिंह आमेर का शासक बना। उसे औरंगजेब ने मथुरा तथा हिंडोन व बयाना का फौजदार बनाया। बिशनसिंह ने जाटो का विद्रोह दमन किया। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त मे दिसम्बर 1699 मे उसके देहान्त के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र जयसिंह द्वितीय आमेर का शासक बना। उसके दक्षिण म कोण्कनीवुज को जीतने पर औरंगजेब ने उस सवाई की उपाधि से सम्मानित किया। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार युद्ध म 20 जून, 1707 को जाजऊ नामक स्थान पर हुए युद्ध म पहले जयसिंह द्वारा आजम का पक्ष लेने के कारण मुअज्जम (जो बहादुरशाह क नाम से सम्राट बना) का वह कोप भाजन बना। आमेर पर सम्राट ने अधिकार कर उसका नाम मोमिनाबाद रख दिया किन्तु बाद मे जयसिंह द्वितीय को उसका राज्य लौटा कर उसे पुन मुगल सेवा म ले लिया गया। इस प्रकार आमेर की भूमिका मुगल राजपूत सम्बन्धो का आधार बनी।

मुगलो से सहयोग की नीति मे बीकानेर की भूमिका
(Bikaner s Role in the Policy of Collaboration with the Mughals)

अथवा

बीकानेर के महाराजा रायसिंह की मुगल साम्राज्य के लिए सेवाएँ
(Services Rendered by Maharaja Raisingh of Bikaner to the Mughal Empire)

महाराजा रायसिंह का प्रारम्भिक जीवन

पृष्ठभूमि—महाराजा रायसिंह के बीकानेर का शासक बनने के पूर्व की

स्थिति का सिंहावलोकन करना मुगलों से सहयोग की नीति में बीकानेर की भूमिका समझने में सहायक होगी। रायसिंह के पितामह राव जैतसी के राज्यकाल (1526 1542 ई) में जब हुमायूं शेरशाह से हार कर मारवाड़, सिंध व गुजरात में अपनी शक्ति का संचय कर रहा था तब उसके भाई कामरान ने बीकानेर पर आक्रमण किए किन्तु उसे पीछे धकेल दिया गया। ऐसी स्थिति में जोधपुर के राव मालदेव ने राज्य विस्तार की दृष्टि से अपने सेनापति कूपा को बीकानेर पर आक्रमण हेतु भेजा। राव जैतसी युद्ध करते हुए मारा गया और उसके पुत्र कल्याणमल ने शेरशाह से सहायता की याचना की किन्तु जब शेरशाह व मालदेव का संघर्ष होने वाला था तो कूपा व जोधपुर के सैनिकों के जोधपुर लौट जाने पर कल्याणमल ने पुनः बीकानेर पर अधिकार कर लिया। राव कल्याणमल ने भटनेर दुर्ग जीत लिया। अकबर के सम्राट बनते ही स्थिति में परिवर्तन आया और मुगलों ने राजस्थान की ओर विजय अभियान किया। अकबर के हिसार के सूबेदार निजामुल्मुल्क ने भटनेर पर अधिकार कर लिया। भटनेर का हाकिम ठाकुरसी लड़ता हुआ मारा गया किन्तु उसके पुत्र बाघा ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली थी, अतः भटनेर उसे सौंप दिया गया। इस घटना से राव कल्याणमल मुगलों से आतंकित हो गया।

अकबर जब 1570 में नागौर आया तो अकबर से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने हेतु राव कल्याणमल अपने पुत्र रायसिंह के साथ नागौर आया और अकबर से भेंट की। अकबर ने राठौड़ों की फूट से लाभ उठाया और कल्याणमल की मुगलों की अधीनता की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कल्याणमल ने अपने छोटे पुत्र पृथ्वीराज को अकबर के दरबार में भेज दिया जिसे अकबर ने गागरोन का किला जागीर में दिया। 1574 में कल्याणमल की मृत्यु के बाद रायसिंह बीकानेर की गद्दी पर बैठा। इसके पूर्व 1572 में अकबर ने जोधपुर दुर्ग पर अधिकार कर चन्द्रसेन को वहां से भगाकर जोधपुर के प्रशासक पद पर रायसिंह को नियुक्त किया।

बीकानेर की मुगल अधीनता स्वीकार कर अकबर की सेवा में आने के इस कृत्य पर विभिन्न इतिहासकारों ने टिप्पणियां की हैं जो उल्लेखनीय हैं। ओझा का कथन है कि जिन मुसलमानों की सहायता से वह अपना गया हुआ राज्य वापस पा सका था उनकी शक्ति को वह खूब अच्छी तरह से समझ गया था। वास्तव में राव कल्याणमल का यह कार्य बहुत बुद्धिमानी का हुआ जिससे अकबर और जहांगीर के समय शाही दरबार में जयपुर के बाद बीकानेर का ही बड़ा सम्मान रहा।[1] डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार भटिण्डा के बीकानेर के अधिकार से निकल जाने से राव कल्याणमल की सैनिक स्थिति निर्बल हो चली थी और उसकी भी मनोवृत्ति आश्रित रहने में राज्य का हित समझती थी। इसीलिए पहले उसने पठानों का और तदनन्तर मुगलों का आश्रय ढूंढना अपने तथा अपने राज्य के लिए श्रेयस्कर समझा।'[2]

1 गौरीशंकर हीराचन्द ओझा बीकानेर राज्य का इतिहास p 133 135
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 215

युवराज के रूप में मुगल सेवाएँ—राव रायसिंह का युवराज काल में ही 1572 में अकबर ने जोधपुर का अधिकारी बना दिया था। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार वह 1588 तक इस पद पर बना रहा। 1572 में ही गुजरात अभियान में रायसिंह अकबर के साथ था। जब इब्राहीम हुसैन मिर्जा मालवा व गुजरात से मुगल सेना पराजित हो नागौर पहुंचा तो रायसिंह ने उसे बुरी तरह हराया। 1573 में गुजरात को दूसरे अभियान में भी रायसिंह अकबर के साथ गया। मिर्जा को बंदी बना कर रायसिंह को सौंपा गया जिसने मिर्जा का वध करा दिया। अबुल फजल व दलपत विलास के अनुसार अहमदाबाद के निकट हुए युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने पर अकबर ने उसे पुरस्कृत किया और उसे सिरसा, हाँसी व माराठ के परगने दिए जिनकी वार्षिक आय एक लाख बीस हजार थी।

शासक के रूप में मुगल सेवाएँ—'तारीख फरिश्ता' के अनुसार बीकानेर की गद्दी पर बैठने पर रायसिंह को अकबर ने 'राजा' की उपाधि तथा 22 परगने जागीर में दिए।

1574 में सिवाना दुर्ग पर चन्द्रसेन के अधिकार कर लेने पर उसके विरुद्ध रायसिंह को अकबर ने भेजा। रायसिंह ने कूटनीति से काम लिया व चन्द्रसेन के समर्थक कल्ला को मोजत छोड़ने हेतु विवश किया और अंत में उसे अपने पक्ष में कर चन्द्रसेन की शक्ति कम करदी जिससे शाहबाजखां के नेतृत्व में मुगल सेना ने सिवाना दुर्ग जीत लिया। 1576 में जालौर के ताजखां व सिरोही के सुरताण देवड़ा के विद्रोह दमन हेतु रायसिंह को भेजा गया जिसने उन्हें मुगल अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया किन्तु सुरताण के भाग जाने पर पुनः रायसिंह को ही उसके विरुद्ध भेजा जिसने सुरताण को आबू में बन्दी बना कर अकबर के समक्ष प्रस्तुत किया तथा सिरोही के दो भाग कर उन पर क्रमश: सुरताण व जगमाल का अधिकार रखा गया। किन्तु सुरताण द्वारा जगमाल को हरा देने पर पुनः मुगल व सुरताण संघर्ष चलता रहा जिसमें रायसिंह की भूमिका प्रमुख रही।

1581 में रायसिंह को काबुल के शासक हकीम मिर्जा का दमन करने हेतु तथा अटक, बंगाल, बलूचिस्तान, सिंध, दक्षिण आदि पर सैनिक अभियानों में भेजा गया। रायसिंह को पंजाब (1583), खानदेश (1585) व लाहौर (1586) का सूबेदार भी बनाया गया। 1600 में नागौर परगना रायसिंह को मिला। 1601 में नासिक व 1603 में मेवाड़ के अभियानों में भी रायसिंह ने वीरता प्रदर्शित कर अकबर से जागीरें प्राप्त की।

जहाँगीर के समय बीकानेर मुगल सम्बन्ध अधिक मधुर न रहे। खुसरो के विद्रोह दमन के आदेश की अवहेलना कर रायसिंह ने जहाँगीर के विरोधियों को बीकानेर में आश्रय दिया। 1608 में जहाँगीर की सुदृढ़ता देखकर रायसिंह पुनः मुगल सेवा में आ गया और साम्राज्य विस्तार में सहयोग किया जिससे प्रभावित हो जहाँगीर ने उसे पंच हजारी मनसबदार बनाया। 22 जनवरी, 1612 में रायसिंह की मृत्यु बुरहानपुर में हो गई।

रायसिंह का चरित्र एवं उपलब्धियों का मूल्यांकन
(Evaluation of Raisingh's Character and Achievements)

डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने रायसिंह की वीरता का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि "थोड़े समय में ही अपने वीरोचित गुणों के कारण वह अकबर का प्रीति पात्र और विश्वास भाजन बन गया। बादशाह की तरफ से अनेकों चढ़ाइयों में वह भी साथ था। अधिकतर शाही सेना में संलग्न रहने पर भी वह अपने राज्य की तरफ से कभी उदासीन न रहा और उधर के उपद्रवी सरदारों पर उसने कड़ी नजर रखी। शाही दरबार में उस समय जयपुर का छोड़कर बीकानेर से ऊँचा सम्मान अन्य किसी राज्य का न था।" "उसके वीरता आदि गुणों पर विमुग्ध होकर अकबर ने उसे कई बार जागीरें प्रदान की थी।"[1]

डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने रायसिंह के अन्य गुणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि "वीरोचित गुणों के साथ साथ रायसिंह का साहित्य में भी बड़ा अनुराग था। वह स्वयं कवि था और कवियों एवं साहित्यकारों का आश्रयदाता था। रायसिंह को भवन निर्माण में बड़ी रुचि थी। बीकानेर के सुदृढ़ किले के निर्माण की आज्ञा उसने अपने मंत्री कर्मचन्द को दी जिसके निर्माण में लगभग पाँच वर्ष लगे। उसके समय में अनेक मंदिरों के निर्माण हुए और उनका जीर्णोद्धार हुआ जिनमें बीकानेर का जैन मन्दिर मुख्य है।"[2] प्रजापालक गुणों का उल्लेख दयालदास की ख्यात में इस प्रकार मिलता है, "प्रजा के कष्टों के निवारण की ओर भी उसने समय समय पर ध्यान दिया। राज्य के उपद्रवी सरदारों पर वह कड़ी नजर रखता था।"[3] रायसिंह की स्वरचित कृतियों में *रायसिंह महोत्सव* व *ज्योतिष रत्नमाला* (बाल बोधिनी) नामक टीका ग्रंथ प्रमुख है। उसके एक आश्रयदाता कवि ने 'राजा रायसिंह रा वेल' पुस्तक लिखी, जैन साधु ज्ञानविमल ने शब्द भेद टीका लिखी तथा रायसिंह के भाई पृथ्वीराज ने 'वेलि कृष्णरुक्मणीरी' काव्य ग्रंथ की रचना की। वह आश्रित कवियों व विद्वानों को जागीरें व करोड़ पसाव के दान दिया करता था। उसकी धर्म सहिष्णुता का प्रमाण उसके द्वारा जैन मंदिरों का निर्माण व जीर्णोद्धार कराये थे।

रायसिंह के उत्तराधिकारी पुत्र दलपत व सूरसिंह ने भी मुगल सेवाएँ कीं। 1615 ई. तक बीकानेर मुगल सम्बन्ध मधुर बने रहे।

1. डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास
2. डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, p. 406-407
3. दयालदास की ख्यात, पृ. 32

मुगलों से सहयोग की नीति में जोधपुर की भूमिका
(Jodhpur's Role in the Policy of Collaboration with the Mughals)

अथवा

जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की मुगल साम्राज्य के लिए सेवाएँ
(Services Rendered by Maharaja Jaswant Singh of Jodhpur to the Mughal Empire)

जोधपुर मुगल सम्बन्ध की पृष्ठभूमि

डा गोपीनाथ शर्मा ने मारवाड (जोधपुर) की मुगलों से सहयोग की नीति की पृष्ठभूमि दर्शाते हुए कहा है कि 1581 ई में राव चन्द्रसेन की मृत्यु हो जाने पर अकबर की स्थिति मेवाड़ में बडी सन्तोषजनक थी। कई राठौड सरदार उसके मनसबदार बन चुके थे तथा मालदेव के अन्य पुत्र उसके आश्रय में थे। रिक्त गद्दी पर वैसे तो बडे भाई उदयसिंह का हक था परन्तु राजनीतिक परिस्थिति में अधिक स्थायित्व लाने के लिए लगभग तीन वर्ष तक जोधपुर के राज्य को खालसा में रखा गया। यह कदम राजपूत नीति के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण अंग था। सम्राट ने इस प्रकार के व्यवहार से इस बात का स्पष्टीकरण किया था कि राजपूत राज्य जो मुगल राज्य से सन्धि कर लेते हैं उसके पूर्ण आश्रित हैं। गद्दी के अधिकार की मान्यता या अमान्यता सम्राट की इच्छा पर निर्भर है।[1] अतः उचित समय पर अकबर ने 1583 ई में उदयसिंह को जोधपुर राज्य खिलअत व खिताब सहित सौंप दिया।

उदयसिंह (1583–1595)—उदयसिंह जिसे मोटा राजा के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है, ने अपनी पुत्री मानीबाई का विवाह शाहजादे सलीम के साथ कर दिया जो 'जगत गुसाँई' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उसे 'जोधाबाई' भी कहा जाता था। उदयसिंह को एक हजार का मनसब दिया गया। 'जोधपुर के राज परिवार में यह प्रथम व्यक्ति था जिसने मुगलों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपने प्रभाव को मुगल व्यवस्था में बढ़ाने की चेष्टा की थी। इसने मालदेव के समय में आरम्भ होने वाली सतत् युद्ध की स्थिति को समाप्त कर मारवाड़ को शान्ति और सुख से साँस लेने का अवसर दिया। परन्तु इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस शान्ति का मूल्य राठौड वंश के गौरव के बलिदान द्वारा चुकाया गया।'[2]

उदयसिंह ने 1577 में मधुकर बुन्देले के विरुद्ध 1584 में गुजरात के बागी सरदार मुज्जफर दौलत के विद्रोह दमन व 1588 व 1593 में सिरोही के सुरताण के विरुद्ध अपनी वीरता का प्रदर्शन किया। 1592 में उसे लाहौर का प्रबन्धक बनाया गया।

महाराजा सूरसिंह (1595–1619 ई)—सूरसिंह को उसके बडे भाइयों के होते हुए भी अकबर ने जोधपुर का शासक नियुक्त किया व उसे दो हजार का मनसब

1-2 पूर्वोद्धृत प 433–434

दिया। उसने अकबर के समय गुजरात के प्रबन्ध व 1597 में विद्रोही बहादुर के दमन में सहयोग दिया। 1599 में दक्षिण अभियान पर न जाने पर उससे सोजत छीन लिया गया किन्तु जब उसे सोजत पुनः मिल गया तो उसने नासिक अभियान व खुदाबाद के विद्रोह दमन में वीरता दिखाई। जहाँगीर के समय 1613 में खुर्रम के मेवाड़ व दक्षिण अभियानों में भाग लिया व अपना मनसब बढ़वाया।

महाराजा गजसिंह (1619–1638)—सूरसिंह की दक्षिण में मृत्यु हो जाने के बाद उसके पुत्र गजसिंह ने दक्षिण अभियान, खुर्रम के विरुद्ध खानजहाँ लोदी के विरुद्ध तथा बीजापुर व कन्धार के अभियानों में वीरता प्रदर्शित की। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह के स्थान पर दूसरे पुत्र जसवन्तसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाया। अमरसिंह राठौड़ को शाहजहाँ ने अपना मनसबदार बनाया किन्तु 1644 में उसने शाही दरबार में सलाबतखाँ को मार डालने पर उसकी हत्या कर दी गई। गजसिंह की आगरा में 1638 में मृत्यु के बाद उसका पुत्र जसवन्तसिंह जोधपुर की गद्दी पर बैठा।

महाराजा जसवन्तसिंह की मुगल साम्राज्य के लिए सेवाएँ
(Services rendered by Maharaja Jaswant Singh to the Mughal Empire)

राज्यारोहण—महाराजा जसवन्तसिंह का जन्म 26 दिसम्बर, 1626 ई. में हुआ था। वह 12 वर्ष की आयु में 25 मई 1638 को गद्दी पर बैठा। आगरा में शाहजहाँ ने उसे टीका व खिलअत प्रदान की। उसे चार हजार का मनसब दिया गया। उसने शाहजहाँ व औरंगजेब के समय मुगल साम्राज्य की अमूल्य सेवाएँ कीं।

उत्तराधिकार युद्ध शाहजहाँ के पक्ष में जसवन्तसिंह की सेवाएँ—जसवन्तसिंह को पहले जमरूद व दारा के साथ कंधार अभियान में भेजा गया। 1645 में वह आगरा का सूबेदार बना। 1649 में पुनः उसे कंधार भेजा गया जिसमें सफलता प्राप्त करने पर शाहजहाँ ने उसे महाराजा की उपाधि दी व मनसब में वृद्धि की। उत्तराधिकार के युद्ध के समय वह शाहजहाँ व दारा का कृपापात्र था। डा. वी. एस. भार्गव के अनुसार *1657 में उत्तराधिकार संघर्ष के समय महाराजा जसवन्तसिंह को हिन्दुस्तान के राजाओं में श्रेष्ठ एवं फौजी सम्मान तथा रौबदाब में प्रथम समझा जाता था। शाहजहाँ उसे सही रूप में मुगल साम्राज्य का स्तम्भ समझता था। विद्रोही औरंगजेब व मुराद के विरुद्ध सैनिक अभियान का भार जसवन्तसिंह पर ही डाला गया था।*[1]

विद्रोही शाहजादे मुराद व औरंगजेब क्रमशः गुजरात व दक्षिण से शाहजहाँ की बीमारी की खबर सुनकर आगरा आ रहे थे तो शाहजहाँ ने उन्हें रोककर अपने प्रान्तों में भेजने हेतु जसवन्तसिंह को आदेश दिया। जसवन्तसिंह इस हेतु 6 फरवरी,

1 डॉ. वी. एस. भार्गव, राजस्थान का इतिहास, p. 233
2 मारवाड़ री ख्यात

1658 को उज्जैन पहुँचा। उसके साथ दारा कासिम खाँ मुकुन्दसिंह हाडा रत्नसिंह राठौड आदि सेनापति थे। औरंगजेब ने उसके मार्ग न रोकने की वार्ता जसवन्तसिंह से की जो स्वीकृत नहीं की गई। फलत उज्जैन से 15 मील दूर धरमत नामक स्थान पर 16 अप्रैल 1658 में दोनों सेनाओं में युद्ध हुआ जिसमें जसवन्त सिंह हार कर जोधपुर चला गया। इस कायरता के लिए उसकी उदयपुरी रानी ने उसे अपमानित किया। किन्तु इस घटना को डा ओझा व रेऊ व डा गोपीनाथ शर्मा असत्य मानते हैं। प रेऊ का कथन है कि "बर्नियर ने यह कथा राजपूत वीरांगनाओं की तारीफ में सुनी सुनाई किंवदन्तियों के आधार पर ही लिखी है और मुन्तखब उत तवारीख के लेखक ने हिंदू नरेश की वीरता को मुनाव में डालने का उद्योग किया है।[1] डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार 'राजपूत वीरांगनाएं अपने पति के साथ किसी भी स्थिति में इस प्रकार अपमानजनक व्यवहार नहीं कर सकती ऐसी स्थिति में जोधपुर के दुर्ग के द्वार बन्द कर जसवन्तसिंह को अपमानित करना तथा उदयपुर से या बूंदी से उसकी माँ का आना कपोल कल्पित ही दिखाई देता है।'[2]

धरमत के युद्ध में औरंगजेब की विजय उसके तोपखाने के कारण हुई। यदुनाथ सरकार का कथन है कि "वास्तव में यह तलवार और बारूद का युद्ध था जिसमें तोपखाने ने घुडसवारों को रौंद डाला।"[3] उत्तराधिकार के इस युद्ध में भाई-भाई राजगद्दी के लिए लडे। एस आर शर्मा के अनुसार 'मुगल खानदान की यह दुखद कहावत सी बन गई थी कि राजा के लिए कोई आत्मीय नहीं है। इस घातक युद्ध में जो भाई शामिल हुए थे उनका भी यही नारा था कि तख्त या तख्ता ताज या कफन।'[4] इस युद्ध का कारण शाही फौज के विश्वासघात व षड्यन्त्र को मानते हुए कर्नल टाड का मत है कि 'मारकाट के थोडे ही समय बाद जसवन्तसिंह के साथ आगरे से जो मुगल सेना आई थी और कासिमखाँ जिसका सेनापति था वह जसवन्त सिंह की सेना से निकल कर औरंगजेब की फौज के साथ मिल गई।[5]

धरमत युद्ध में विजयी हो औरंगजेब बादशाह बन गया जिसका जोधपुर मुगल सम्बन्धों पर विपरीत प्रभाव पडा। वी एस भार्गव का यह मत द्रष्टव्य है कि 'अब विद्रोही राजकुमार बादशाह बन गया था। धरमत की पराजय ने जसवन्तसिंह की 20 साल की मेहनत पर पानी फेर दिया। औरंगजेब उसे सन्देह की नजर से देखने लगा। महाराजा के हृदय में भी मुगलों की सेवा का वह उत्साह नहीं रहा और औरंगजेब को भी आगे कभी राजा पर पूरा विश्वास नहीं हो सका। इस प्रकार धरमत का युद्ध दिल्ली और जोधपुर के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के बीच एक दरार बना गया जो धीरे धीरे और चौडी होती गई। [6]

1 प रेऊ मारवाड का इतिहास भाग-1 पृ 224-25
2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 440
3 यदुनाथ सरकार औरंगजेब, भाग-1 पृ 355
4 एस आर शर्मा भारत में मुस्लिम साम्राज्य, पृ 425
5 कर्नल टॉड राजस्थान का इतिहास पृ 384
6 वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास पृ 246

औरंगजेब के समय जसवन्तसिंह की सेवाएँ

औरंगजेब से असहयोग—औरंगजेब के सम्राट बनने पर जसवन्तसिंह मार्च 1659 में उसकी सेवा में उपस्थित हुआ। मिर्जा राजा जयसिंह की मध्यस्थता से औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया। इसके पूर्व जसवन्तसिंह 5 जनवरी, 1659 को औरंगजेब के साथ विद्रोही शुजा के विरुद्ध खजवा के युद्ध में भी सम्मिलित हुआ किन्तु शुजा से गुप्त समझौता कर औरंगजेब की सेना पर आक्रमण करने हेतु तैयार हो गया था किन्तु शुजा द्वारा समझौते के अनुसार कार्य न करने तथा औरंगजेब को इस षडयन्त्र के विषय में ज्ञात होने के भय से जसवन्तसिंह भाग कर इटावा होता हुआ मारवाड चला गया। डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा ने जसवन्तसिंह के इस कार्य को विश्वासघात न मानकर न्यायोचित बताते हुए कहा है कि खफीखाँ व अन्य इतिहासकारों ने जसवन्तसिंह की युद्ध क्षेत्र की नीति को विश्वासघात की संज्ञा दी है परन्तु मारवाड की ख्यातें, अकिलखाँ आदि ने इस विश्वासघात नहीं माना है क्योंकि इनके अनुसार जसवन्तसिंह का उद्देश्य शाहजहाँ को पुनः मुगल बादशाह बनाना था।[1]

औरंगजेब ने जसवन्तसिंह को दण्डित करने हेतु नागौर के शासक अमरसिंह के पुत्र रायसिंह को जोधपुर का शासक नियुक्त किया जिससे राठौड़ों में फूट पड़ जाए। जसवन्तसिंह ने खजवा में लूटे हुए धन से सैनिक संगठन बनाया तथा अहमदाबाद से दारा को आमन्त्रित किया व शाहजहाँ को पुनः सम्राट बनाने का आश्वासन दिया। दारा सिरोही पहुँचा व राणा से सहायता माँगी। औरंगजेब ने तब मिर्जा राजा जयसिंह को पत्र लिखकर जसवन्तसिंह को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करने को कहा। जसवन्तसिंह को जोधपुर राज्य, लूट का धन व गुजरात की सूबेदारी का आश्वासन भी दिया। अतः जयसिंह के प्रयत्न से जसवन्तसिंह ने अपनी नीति परिवर्तित कर दारा को सहायता न दी। 12 मार्च 1659 ई. को अजमेर के पास दौराई के युद्ध में दारा की पराजय हुई। जसवन्तसिंह को अपना राज्य, मनसब व गुजरात की सूबेदारी मिल गई। फारसी इतिहासकारों ने जसवन्तसिंह पर दारा से विश्वासघात करने का आरोप लगाया है किन्तु डॉ. वी. एस. भार्गव ने इस नीति का समर्थन किया है क्योंकि इस नीति से मारवाड़ का विनाश होने से बचाव हो गया।[2]

औरंगजेब से पुनः सहयोग—*गुजरात की सूबेदारी (1659-1661 ई.)* की अवधि में सर्वप्रथम उसने दारा द्वारा उत्पन्न अशान्ति व अकाल की स्थिति को सुधारा जिसके उपलक्ष्य में औरंगजेब ने उसे महाराजा की उपाधि दी। इसके बाद उसे दक्षिण में शिवाजी के विरुद्ध शाइस्ताखाँ की मदद करने के लिए भेजा गया। दक्षिण में 1662 से 1665 ई. तक जसवन्तसिंह की उपस्थिति में भी शिवाजी शाइस्ताखाँ पर हमला करने में सफल रहा। अतः उसे शाइस्ताखाँ के स्थान पर नए

1 डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा : राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण, पृ. 111
2 डॉ. वी. एस. भार्गव : मारवाड़ एण्ड दी मुगल एम्परर्स

सूबेदार मुअज्जम की सहायता करने का आदेश दिया गया जिसने 1663 में कौंडाना दुर्ग का घेरा डाला किन्तु असफल होने पर 1664 में घेरा उठा लिया गया। जसवंतसिंह को दिल्ली बुला लिया गया। 1667 से 1671 ई तक जसवंतसिंह पुनः दक्षिण में मुअज्जम की सहायतार्थ नियुक्त किया गया। इस अवधि में जसवंतसिंह शिवाजी से संधि कराने में सफल रहा।

1671–72 में जसवंतसिंह ने गुजरात के सूबेदार के रूप में वहाँ की शासन व्यवस्था ठीक की। 1673 में शुजातखाँ की सहायतार्थ जसवंतसिंह को काबुल भेजा गया किन्तु सफलता न मिलने पर उसे जमरूद भेजा गया जहाँ उसकी मृत्यु 28 नवम्बर 1678 ई में हो गई।

जसवंतसिंह का मूल्यांकन

जसवंतसिंह का मूल्यांकन करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का मत है कि जसवंतसिंह के राजनीतिक जीवन में कुछ विरोधाभास दिखाई देते हैं जिनमें शुजा व दारा के साथ किए गए समझौते तथा शिवाजी के साथ गठबंधन बताये जाते हैं। वास्तव में उस समय की सैनिक और कूटनीतिक सेवाओं में रहने के कारण उसके व्यवहार में ऐसा आभास होता है। वस्तुतः स्थिति यह है कि महाराजा सीधे सत्य और यथोचित कार्यों के पक्ष में रहते हुए इस प्रकार आचरण करता था कि उसका सही मूल्यांकन होना कठिन था।[1] प रेऊ के अनुसार महाराज जसवंतसिंह बड़े वीर, मनस्वी प्रतापी, दूरदर्शी नीति निपुण विद्वान, कवि दानी व गुण ग्राहक थे। औरंगजेब की परवाह न कर समय समय पर उसका विरोध किया और एक बार तो स्वयं जसवंतसिंह ने उसकी सेना पर आक्रमण कर उसका खजाना लूट लिया था। फिर भी बादशाह खुलकर उसका विरोध न कर सका। यद्यपि मन ही मन वह इनसे जलता था तथापि इन्हें अपने देश से दूर रखने के सिवाय कुछ नहीं कर सका। "मआसिर उल उमरा" के शब्दों में अपनी सम्पत्ति और अनुयायियों की संख्या के कारण वह भारत के राजाओं में शिरोमणि था।[3]

जसवंतसिंह हिन्दू धर्म का रक्षक था। प रामकरण आसोपा के अनुसार "जसवंतसिंह के भय से औरंगजेब ने जजिया नहीं लगाया और जब औरंगजेब ने मंदिरों को ध्वंस करने की नीति अपनाई तो उसने काबुल में मस्जिदें तोड़ने की आज्ञा जारी कर दी।[4] जसवंतसिंह स्वयं विद्वान व विद्वानों का आश्रयदाता था। उसने स्वयं दो नाटक लिखे—प्रबोध चन्द्रोदय और सिद्धान्त सार। उसके समय का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ भाषा भूषण था। सूरत मिश्र नरहरिदास, नवीन कवि आदि विद्वान उसके आश्रय में रहते थे। 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' ऐतिहासिक महत्त्व का ग्रंथ है।

---

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, पृ 447
2 प विश्वेश्वरनाथ रेऊ मारवाड का इतिहास, भाग–2
3 मआसिर-उल उमरा व मासिरआलमगीरनामा प 32
4 प रामकरण आसोपा मारवाड का मूल इतिहास

6 साम्राज्यिक हस्तक्षेप एव राजपूत स्वाधीनता का सग्राम—दुर्गादास की भूमिका

(Imperial Interference and War of Rajput Independence—Role of Durga Das)

राजस्थान म साम्राज्यिक हस्तक्षेप का ज्वलन्त उदाहरण जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद औरगजेब द्वारा जसवन्तसिंह के नवजात शिशु अजीतसिंह को मार डालने का प्रयत्न करना व जोधपुर का खालसा करना था। इस हस्तक्षेप के कारण अजीतसिंह की रक्षा एव जोधपुर को पुन हस्तगत करने हेतु राजपूत स्वाधीनता का एक लम्बा सग्राम चला जिसका नेतृत्व वीरवर दुर्गादास ने किया था। पूर्व अध्याय म मुगलो से सहयोग करते हुए जसवन्तसिंह की जमरूद म 28 नवम्बर 1678 ई म हुई मृत्यु का उल्लेख किया जा चुका है। अत राजपूतो के इस स्वतन्त्रता सग्राम की पृष्ठभूमि समझना वांछनीय है।

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार जसवन्तसिंह की जमरूद म मृत्यु होना मारवाड के लिए आपत्ति का सूत्रपात था। जसवन्तसिंह का कोई पुत्र तब तक नहीं पैदा हुआ था। अमरसिंह का पोता इन्द्रसिंह शाही दरबार का सामन्त था। औरगजेब की दृष्टि म वह मारवाड का उपयुक्त शासक हो सकता था क्योंकि दो पीढ़ियों स उसके वशज मुगल अधीनता म रह चुके थे। उसम मुगल स्वार्थों की रक्षा उसके द्वारा मारवाड मे अच्छी हो सकती थी। औरगजेब टीके के दस्तूर को अपना विशेष अधिकार मानकर यह ताने बाने बुनने लगा कि इन्द्रसिंह को मारवाड का अधिकारी बना दिया जाए और जोधपुर पर तब तक शाही अधिकारियों को प्रबन्ध के लिए भेज दिया जाए।[1] वी एस दिवाकर का भी कथन है कि "जसवन्तसिंह

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास प 449

की मृत्यु के साथ मारवाड़ की स्वतंत्रता को विपदा के बादल बादलों ने घेर लिया। उनकी मृत्यु के साथ जोधपुर राज्य की स्वतन्त्रता का संग्राम शुरू हुआ जो औरंगजेब की मृत्यु के बाद तक चलता रहा है।[1]

इन परिस्थितियों में औरंगजेब की कुटिल कूटनीति के कारण राजपूतों का जो स्वाधीनता संघर्ष चला उसका नेतृत्व दुर्गादास ने किया था। अतः दुर्गादास के विशेष संदर्भ एवं उसकी भूमिका के परिप्रेक्ष्य में इस संग्राम का विवेचन किया जाना समीचीन होगा।

राजपूत स्वाधीनता संग्राम में दुर्गादास की भूमिका
(The Role of Durga Das in the War of Rajput Independence)

प्रारम्भिक परिचय

दुर्गादास का जन्म 1638 में हुआ था। उसका पिता आसकरण दुनेरा का जागीरदार व महाराजा जसवन्तसिंह का मन्त्री था। आसकरण अपनी पत्नी से अप्रसन्न था और उसे अपने पुत्र दुर्गादास के साथ छोड़ दिया था जो लुणावे गाँव में रहने लगे थे और कृषि कार्य करते थे। डा. गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि 'इस अर्थ में शिवाजी और शरवों की भांति दुर्गादास का प्रारम्भिक जीवन आरम्भ हुआ था। शिवाजी की माँ की भाँति दुर्गादास की माँ ने भी उसमें मारवाड़ तथा उसके राजवंश के प्रति भक्ति की भावना भर दी थी।'[2]

एक दिन जब वह खेत की रखवाली कर रहा था तो एक सरकारी राइके ने खड़ी फसल में अपने ऊँट चराकर उसे नष्ट कर दिया। जब दुर्गादास ने उसे रोका तो झगड़ा करने लगा और जोधपुर के महाराजा तक के लिए अपमानजनक शब्द कहे कि "जसवन्तसिंह का किला तो घास फूस का है जिस पर छप्पर भी नहीं है।" अपने राजा का अपमान सुन कर दुर्गादास ने उसे मार डाला। जब राइके की इस हत्या की सूचना महाराजा को मिली तो महाराजा ने आसकरण से इसके बारे में पूछा किन्तु आसकरण ने दुर्गादास को कुपुत्र मानकर उसे पुत्र मानने से इन्कार कर दिया। डॉ. ओझा के अनुसार जब महाराजा जसवन्तसिंह ने दुर्गादास को अपने समक्ष बुलाया तो उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए निडर होकर कहा कि अपने राजा का अपमान सहन न करने के कारण उसने राइका की हत्या की थी। जसवन्तसिंह उससे बड़ा प्रसन्न हुआ और उसे अपनी सेवा में रखते हुए कहा कि दुर्गादास भविष्य में मारवाड़ राज्य का उद्धारक होगा।[3] डॉ. शर्मा का यह मत है कि "वास्तव में महाराजा ने जो दुर्गादास के होनहार होने के लक्षण देखे थे वे सही निकले।"[4]

1 वी एस भिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 251
2-4 पूर्वोक्त पृ 466
3 डॉ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जोधपुर राज्य का इतिहास, p 482-83

दुर्गादास के प्रारम्भिक जीवन में घटित इस घटना तथा महाराजा जसवंतसिंह की भविष्यवाणी सही निकली। यह मारवाड के लिए उनके द्वारा किए गए त्याग वीरतापूर्ण कार्यों व कूटनीति में प्रमाणित होता है जिसका विवरण आगे दिया जा रहा है।

जोधपुर राज्य को खालसा करना

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है औरंगजेब जोधपुर राज्य को जमरूद में जसवंतसिंह की मृत्यु के बाद खालसा कर उसे इन्द्रसिंह (जो इस समय दक्षिण में था) को सौंपना चाहता था। डा. यदुनाथ सरकार ने इसके कारण बताते हुए कहा है कि मारवाड को अपने अधिकार में रखने के लिए सम्राट के दो बडे स्वार्थ भी छिपे हुए थे। एक तो यह था कि गुजरात अहमदाबाद केम्बे अरबसागर आदि व्यापारिक केन्द्रों से सम्पर्क बनाए रखने के लिए मारवाड से सीधे मार्ग दिल्ली और आगरा जाते थे। मेवाड वाले मार्ग में कई बाधाएं थी। यदि मारवाड मुगल साम्राज्य के प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है तो शाही लश्कर तथा व्यापार के आदान प्रदान की बडी सुविधा हो सकती थी। दूसरा स्वार्थ यह भी था कि मारवाड का शासक जसवंतसिंह हिन्दू प्रतीकों का रक्षक माना जाता था। उसके सुधारक अधिकारी से भी इसी प्रकार की प्रेरणा मिल सकती थी। अपनी हिन्दू विरोधी नीति के परिवर्धन में मारवाड में एक उत्तराधिकारी की आवश्यकता थी जो सम्राट की नीति का समर्थन करे। इसके अतिरिक्त औरंगजेब जसवंतसिंह द्वारा की गई हरकतों का बदला उसके राज्य को नष्ट कर या अधीन स्थिति में लाकर लेना चाहता था। महाराजा की मृत्यु इसके लिए उपयुक्त अवसर था।[1]

उपरोक्त कारणों से औरंगजेब ने जोधपुर राज्य को खालसा कर लिया और वहाँ फौजदार के पद पर ताहिरखां किलेदार के पद पर खिदमत गुजरखां, अमीन के पद पर शेर अनवर व कोतवाल के पद पर अब्दुर्रहीम को नियुक्त कर दिया। शाहजादा अकबर शाइस्ताखां (आगरा) मुहम्मद अमीनखां (गुजरात) व असदखां (उज्जैन) को भी जोधपुर भेज कर दक्षिण में नियुक्त इन्द्रसिंह को राज्य लेने हेतु आमंत्रित किया।[2] यह व्यवस्था औरंगजेब ने तत्काल कर दी। सर यदुनाथ सरकार का कथन है कि जब यह प्रबंध हो रहा था राठौड दल दोनो गर्भवती रानियों को साथ लेकर जमरूद से लाहौर पहुंचा जहाँ उनसे कुछ समय के ही अन्तर में 19 फरवरी 1679 को दो पुत्र अजीतसिंह व दलथम्भन उत्पन्न हुए। इसकी सूचना औरंगजेब को फरवरी माह के अंत तक मिली।[3] औरंगजेब को यह सुनकर आघात पहुंचा किंतु जोधपुर व उसके उत्तराधिकारी अजीतसिंह (नवजात शिशु) को नष्ट करने की कुटिल नीति और भी प्रबल हो उठी। उसने अजीतसिंह को जोधपुर भिजवाने का कोई आदेश न देकर जोधपुर के खजाने की तलाश कराई व नगर के

1 3 डा यदुनाथ सरकार औरंगजेब भाग-3, p 323-24 2)
2 मआसिर ए आलमगीरी पृ 171-73

भवनों, दुर्ग व मंदिर मूर्तियों को नष्ट भ्रष्ट किया तथा 26 मई 1679 को इन्द्रसिंह से 36 लाख रुपये लेकर जोधपुर राज्य उसे दे दिया किन्तु वहां की सरकारी व्यवस्था पूर्ववत रही।

डा. गोपीनाथ शर्मा ने जोधपुर को नष्ट करने की नीति की आलोचना करते हुए कहा है कि "इस सूचना के बाद तो औरंगजेब की यदि नीयत साफ होती तो उसे अजीतसिंह को जोधपुर शीघ्रातिशीघ्र भिजवा देना चाहिए था। परन्तु उसने मारवाड़ को अधीन करने की नीति में कोई शिथिलता नहीं आने दी। राज्य को निःसहाय पाकर और मुगल अधिकार का विरोध न देखकर सम्राट ने चारों ओर खजाना की तलाश करवाना आरम्भ किया। खिदमतगुजारखां ने सिवाना के खजाने की तलाशी ली जहां फटे चिथड़ों के अतिरिक्त कुछ भी न मिला। अन्य स्थानों में कोट, बुर्ज, दीवारों और आंगनों में तोड़ फोड़ कर खजाने की तलाशी ली गई। खालसे व दीवान ने सम्भाल की कर दें और राजस्व की आय व आंकड़े बनाना शुरू किया। खानेजहां बहादुर को अफसरों के दल के साथ राज्य पर अधिकार करने तथा मंदिरों को तोड़ने आदि के लिए पहले ही आदेश दिया जा चुका था। उसने जोधपुर पर अधिकार स्थापित करने में सफलता प्राप्त की और वह गाड़ियों में मूर्तियाँ लदवाकर दिल्ली लाया जिन्हें दिल्ली के किले के दालान तथा जामा मस्जिद के सामने पैरों तले कुचलने के लिए रखवा दी गई।"[1] इस विवरण से स्पष्ट होता है कि औरंगजेब ने जोधपुर को नस्तनाबूद करने की जो क्रूर व धर्मान्ध नीति अपनाई वह राजपूतों के आक्रोश व प्रतिशोध को उद्दीप्त करने व मुगल साम्राज्य के पतन का कारण बनी।

अजीतसिंह को बचाने हेतु दुर्गादास द्वारा गुप्त मन्त्रणा व युद्ध

औरंगजेब की क्रूर व आक्रामक नीति का राजपूतों ने कोई विरोध न किया क्योंकि दुर्गादास की कूटनीति के कारण जमरूद में प्राण वाले राठौड़ सरदारों ने जोधपुर इस आशय का संदेश भिजवा दिया था। अजीतसिंह के प्राणों की रक्षार्थ अभी विद्रोह करना उचित नहीं था। दुर्गादास को यह आशा थी कि रानियों व अजीतसिंह के जोधपुर आते ही मुगल आधिपत्य हट जाएगा। किन्तु इस आशा को क्रियान्वित होने के लिए राजपूतों को अपनी स्वाधीनता हेतु एक लम्बा संघर्ष करना था जिसका नेतृत्व दुर्गादास ने किया।

औरंगजेब ने लाहौर से राठौड़ सरदारों, रानियों व अजीतसिंह को दिल्ली इस आश्वासन के साथ बुलवा लिया कि राज परिवार को मनसब दिया जाएगा। राठौड़ सरदारों ने 26 फरवरी, 1679 को औरंगजेब से अजीतसिंह को जसवंतसिंह का उत्तराधिकारी घोषित करने हेतु प्रार्थना की। जून के अन्त तक राठौड़ राज परिवार दिल्ली पहुंचा किन्तु बादशाह ने कोई निर्णय न लिया। अजीतसिंह को जोधपुर भेजने के लिए बादशाह के आदेश हेतु भाई रघुनाथ, पंचोली केसरी सिंह,

1 पूर्वोक्त पृ 451

जोधा रणछोड़दास गोमददासोत (ग्गा), राठौड़ सूरजमल नाहर खानोत आदि राठौड़ सरदारों ने दीवान असदखाँ व बख्शी मरबुल दखाँ के द्वारा प्रयास किया किन्तु औरंगजेब अजीतसिंह के बड़े होने पर उसे राज्य व मसब देने का वायदा कर बात टालता रहा।[1] दिलखुश' का लेखक कहता है कि 'औरंगजेब उसे जोधपुर देने के लिए तयार हो गया था यदि अजीतसिंह इस्लाम धर्म स्वीकार कर ले।'[2] अनेक इतिहासकार इस कथन को सत्य मानते हैं क्योंकि यह नीति औरंगजेब की धर्मान्धता के कारण उचित थी। औरंगजेब ने इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर ही चौगीगढ़ देवगढ़ और माऊ की जमींदारियाँ विरोधी हकदारों को दी थी। डा शर्मा का भी यही मत है अजीत के प्रसंग में यह धारणा सही भी मालूम होती है जब हम जानते हैं कि उसने जाली अजीतसिंह का नाम मुहम्मदीराज रखा था और उसके मरने पर उसे मुस्लिम विधि से दफनाया था। आगे भी उसने शाहू भोंसले को इस्लाम स्वीकार करने को दबाया था। अतएव अजीत के लिए औरंगजेब ने इसी प्रकार की धारणा बना रखी हो या ऐसा विचार व्यक्त किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं।[3]

राठौड़ सरदार इस अपमानजनक शर्त को मानने हेतु बिल्कुल सहमत न थे। अत औरंगजेब के विवश करने पर राठौड़ दल जोधपुर की हवेली छोड़कर किशनगढ़ की हवेली में रहने लगे। औरंगजेब ने केसरीसिंह पचोली को बन्दी बना कर जोधपुर का हिसाब समझाने को कहा किन्तु उसने विष खाकर आत्महत्या की और अपने आत्मसम्मान की रक्षा की। दुर्गादास ने इस समय कूटनीति से काम लिया और अजीतसिंह की रक्षा हेतु शान्तिपूर्ण किन्तु गुप्त षड्यन्त्र करना श्रेयस्कर समझा। गुप्त मन्त्रणा द्वारा सरदारों ने यह तय किया कि कुछ सरदार जैसे राठौड़ सूरजमल राठौड़ संग्रामसिंह (आडवा) चाँवावत उदयसिंह जैतावत प्रतापसिंह (बगड़ी) राठौड़ राजसिंह आदि एक एक कर जोधपुर लौट जाए जिससे औरंगजेब उन पर संदेह न कर सके व यह समझे कि सरदार अपनी जागीरों को लौट रहे हैं तथा दूसरा उद्देश्य यह था कि ये सरदार जोधपुर पहुँच कर आवश्यकतानुसार मुगलों का प्रतिरोध कर सकें। यह भी गुप्त मन्त्रणा में निर्णय हुआ कि कुछ सरदार दिल्ली के निकट रह कर अजीतसिंह को निकाल ले जाने वाले दल को जोधपुर जाने का समय देकर पीछा करने वाली मुगल सेना के साथ युद्ध कर मर मिटेंगे। प रेऊ का ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर यह मत है कि इस सारी योजना के पीछे दुर्गादास का मस्तिष्क था जिसने औरंगजेब की धूर्तता का उचित रूप से प्रत्युत्तर देने की तरकीब सोच निकाली थी।[4]

उपरोक्त गुप्त योजनानुसार जब कुछ राठौड़ सरदार किशनगढ़ की हवेली से चले गए तो औरंगजेब ने उनकी शक्ति निर्बल देख 15 जुलाई, 1679 को फौलादखाँ

1 मआसिर-ए-आलमगीरी, p 173-77
2 दिलखुश पत्र 16
3 पूर्वोक्त p 452
4 प विश्वेश्वरनाथ रेउ मारवाड़ का इतिहास, भाग-1 पृ 253-55

कोतवाल को उन्हें नूरगढ लाने का आदेश दिया। वी एम दिवाकर के शब्दों में "जिस समय फौलादखाँ अजीतसिंह और रानियों को नूरगढ ले जा रहा था तब रघुनाथ भाटी सौ सरदारों के साथ फौलादखाँ पर टूट पड़ा। 60 साथी भी मारे गए और वह भी काम आया, राजपूत सरदार अजीतसिंह को पहले ही लेकर निकल गए थे। दुर्गादास ने सफलतापूर्वक यह काम किया और संध्या पड़ने तक दिल्ली की सीमाओं से बाहर निकल गया। 23 जुलाई को अजीतसिंह व दुर्गादास मारवाड जा पहुँचे।'[1] डा रघुवीरसिंह के अनुसार 'स्वामिभक्त राठौड़ों ने इतिहास प्रसिद्ध वीरवर राठौड़ दुर्गादास के नेतृत्व में अपने शिशु स्वामी को औरंगजेब के पंजे से बचाने का दृढ निश्चय किया। उनको घेरने वाली शाही सेना को तलवारों के बल से चीरकर औरंगजेब के सारे इरादों को विफल बनाते हुए वे शिशु अजीत व उसकी माता का साथ लिए हुए दिल्ली से मारवाड की तरफ चल पड़े। यों 15 जुलाई, 1679 को दिल्ली में ही राजपूतों के विद्रोह का प्रारम्भ हुआ जो अगले 30 वर्षों तक चलता रहा।'[2]

अजीतसिंह को दिल्ली से मारवाड पहुचाने के सन्दर्भ में विभिन्न स्रोतों के आधार पर भिन्न भिन्न मत प्रचलित हैं। मुन्तखब-उल लुबाब के अनुसार वास्तविक रानियों व राजकुमारों को रात्रि के समय निकाल कर उनके स्थान पर अन्य दो बच्चे व दासियों को छोड़ दिया गया था। 'जोध राज्य की ख्यात' में खीची मुकन्ददास व कलावत द्वारा राजकुमारों को गुप्त रीति से दिल्ली से बाहर ले जाया गया किन्तु मार्ग में दल भजन बालक की मृत्यु हो गई थी। वंश भास्कर' से ज्ञात होता है कि दुर्गादास अजीतसिंह को निकाल ले जाने वालों में से एक था और भाटी गोविन्ददास कालबेलिये के रूप में दोनों राजकुमारों को पिटारियों में रख कर निकाल ले गया था।[3] कर्नल टाड ने उन्हें मिठाई के टोकरों में निकालना बतलाया है।[4] प रेऊ ने लिखा है कि बलूंदा के सरदार मोकमसिंह की पत्नी बाघेली के साथ सकुशल राजकुमारों को राठौड़ों ने निकाला।[5] यदुनाथ सरकार का यह मत ही उचित लगता है कि जब शाही दल और राजपूतों में झगड़ा चल रहा था तब दुर्गादास युक्ति से अजीतसिंह को वहाँ से निकालकर चल दिया।'[6]

रानियों के विषय में भी भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। इन मतों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मुन्तखब उल लुबाब के अनुसार रानियाँ मर्दों की पोशाक में निकल गई, जोधपुर की ख्यात के अनुसार दुर्गादास ने जादमजी व नरूकीजी रानियों को चन्द्रभाण के हाथ से लोहा कराने को कह कर मुगलों से युद्ध किया, मुंशी देवीप्रसाद ने कहा है कि जब हारने की आशंका हुई तो राठौड़ों ने पुरुष वेश में रानियों

1 वी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 254
2 डा रघुवीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान
3 सूर्यमल मिश्रण वंश भास्कर, भाग-3, पृ 2859
4 टॉड राजस्थान का इतिहास भाग-1, पृ 993
5 रेऊ मारवाड़ राज्य का इतिहास भाग-1 p 254
6 सरकार औरंगजेब, भाग-3 पृ 333-34

का वध कर दिया और राजकुमार को दूध बचने वाले के घर छोड़कर भाग गए। टाड युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ही रानियों के वध की बात कहते हैं। अजितोदय व राजरूपक के अनुसार रानियों ने अपने सिर चन्द्रभाग कटवा कर पति का अनुगमन किया। सरकार ने अजीतसिंह की माँ मेवाड वंश की होना व दिल्ली से मेवाड पहुँच कर राणा से सहायता मांगना लिखा है। इन मतों का विश्लेषण करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि 'कुमार वहाँ से निकाल लिया गया था और कई राठौड सरदार उसके मारवाड पहुँचते पहुँचते अपना जीवन की आहुति दे चुके थे। रानियों का भी अन्त इसी रूप से हुआ होना स्वाभाविक दीख पडता है।[1]

अजीतसिंह की रक्षा हेतु मुगल राजपूत संघर्ष

मेवाड से संधि—अजीतसिंह को मारवाड ले जाने के दुर्गादास के दुस्साहस औरंगजेब सहन न कर सका अतः उसने मारवाड पर भीषण आक्रमण किया। उसने बड़े शहजादे अकबर को विशाल सेना के साथ राठौडों के विद्रोह का दमन करने हेतु भेजा। राठौडों द्वारा प्रतिरोध का विवरण देते हुए बी एम दिवाकर का यह कथन उल्लेखनीय है कि राठौड हर स्थान पर मुगलों का विरोध कर रहे थे। वे छापामार युद्ध कर रहे थे। रसद का लूटना मुगल यातायात को हानि पहुँचाना राठौडों का दैनिक कार्यक्रम बन गया था। वे जालौर सिवाना गोडवाना, नागौर डीडवाना और साँभर आदि स्थानों को लूटते व जंगलों में छिप जाते। ऐसा लगता था कि सारे मारवाड में राठौडों की छापामार युद्ध प्रणाली आतंक फैला रही है। अतः शाहजादा अकबर चित्तौड से 16 जुलाई 1680 में सोजत आया और राजपूतों का दमन करने लगा। दुर्गादास ने राणा राजसिंह से मित्रता के प्रयत्न किए कि तु राणा की मृत्यु हो गई। उसने आमेर के राजा जयसिंह से भी संधि वार्ता की। 14 जून 1681 को दुर्गादास ने मेवाड से संधि की और मुगलों के विरुद्ध मारवाड मेवाड संघ का निर्माण किया। दोनों राज्यों की सम्मिलित सेना ने शाहजादा अकबर को परेशान कर उसे मित्रता करने पर विवश किया। 1 जनवरी 1681 को अकबर को नाडोल में सम्राट घोषित किया गया और वह औरंगजेब के विरुद्ध राजपूत सेना तथा अपनी सेना लेकर अजमेर की ओर चल दिया।[3]

औरंगजेब के षडयन्त्र से अकबर की विफलता—अकबर विद्रोही होकर अपने सेनापति तहव्वर खाँ के साथ औरंगजेब का सामना करने हेतु करकी स्थान पर पहुँचा। औरंगजेब की सेना का पड़ाव देवराय स्थान पर था। 15 जनवरी को औरंगजेब ने धोखे से तहव्वर खाँ को बुलाकर मार डाला तथा अकबर के नाम एक पत्र उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा कि उसने राजपूतों के नेता दुर्गादास को फाँस कर उसके पास पहुँचा देने का कार्य ठीक किया और उस बीच में रखकर पिता व पुत्र

1 पूर्वोद्धृत p 455
2 p 255
3 *Dr G N Sharma* Mewar & the Mughal Emperors p 175 79

की सेना द्वारा उसे पराजित करने की बात कही। यह पत्र औरंगजेब ने दुर्गादास के पास पहुंचा दिया जिससे दुर्गादास घबरा कर सैन्य पीछे हट गया जिसके कारण अकबर औरंगजेब के आक्रमण का सामना न कर पाने पर जंगलों में भाग गया। दुर्गादास को जब औरंगजेब की इस चाल का पता चला तो उसने गहरा पश्चाताप किया व अकबर को मराठों की सुरक्षा में रहने के लिए उसे महाराष्ट्र ले गया।

पुनः मुगल मारवाड़ संघर्ष—दुर्गादास के महाराष्ट्र में जाने से औरंगजेब चिंतित हुआ और उसने सारी शक्ति मराठों के विरुद्ध लगा दी। अतः मारवाड़ पर मुगल दबाव कम होने पर राठौड़ों ने जगह जगह मुगल थानों को लूटा। बगड़ी, सोजत, डीडवाना, मेड़ता, जोधपुर आदि के थानों को लूटकर वे पहाड़ों में छिप जाते थे। 1681 में अजीतसिंह को मेवाड़ से हटाकर सिरोही के कालिन्द्री गाँव में लाया गया। राठौड़ सरदारों के परामर्श से 23 मार्च 1687 को पालड़ी में महाराज अजीतसिंह को जोधपुर का महाराजा घोषित कर दिया गया। इस प्रकार गोपनीयता की स्थिति से प्रत्यक्ष प्रकट रूप में आने पर अजीतसिंह मारवाड़ के गाँवों में घूमा और मारवाड़ संगठन को एक नई दिशा प्रदान की। 21 अक्टूबर 1687 को भीरवनाई स्थान पर दुर्गादास ने भी दक्षिण से आकर महाराजा को नजर पेश की।

दुर्गादास के मारवाड़ लौटने पर मुगल मारवाड़ संघर्ष पुनः उग्र रूप से भड़क उठा किन्तु दुर्गादास व अजीतसिंह में मनोमालिन्य हो गया। वी एस दिवाकर का कथन है कि 'युद्ध की नीति के मामले में बड़ा मतभेद हो गया। अजीतसिंह खुले मैदान में युद्ध करना चाहता था जबकि दुर्गादास छापामार युद्ध में विश्वास करता था।'[1] दुर्गादास ने कूटनीति से काम लिया और छोटे शाहजादे बुलन्द अख्तर और उसकी पुत्री सफियतुन्निसा बेगम को बन्दी बना कर घोषणा की कि यदि मारवाड़ पर मुगल आक्रमण कम न हुआ तो उनकी जिन्दगी का खतरा हो जाएगा। इस नीति से औरंगजेब दुर्गादास से संधि वार्ता के लिए विवश हुआ। शुजातखाँ व ईश्वरदास की मध्यस्थता से संधि सम्पन्न हुई।

औरंगजेब से संधि—गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार इस संधि से मुगल मारवाड़ संघर्ष समाप्त हो गया। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में दुर्गादास को इसके अनन्तर बादशाह से मिलने का अवसर मिला, जबकि उसने उसे तीन हजार का मनसब, एक रत्न जटित कटार, एक स्वर्ण पदक, एक मोतियों की माला और एक लाख रुपया नकद देकर सम्मानित किया। मारवाड़ से दूर रखने के लिए, शाही सेवा में उपस्थित हो जाने के बाद सम्राट ने दुर्गादास को पाटन का फौजदार नियुक्त कर उधर भेज दिया। अजीतसिंह को भी मेड़ता की जागीर देकर कुछ शान्त कर दिया गया। परन्तु अजीत एवं दुर्गादास ने फिर विद्रोह का झण्डा उठाया परन्तु किसी प्रकार उसे शान्त कर दिया गया। अन्त में जब औरंगजेब की मृत्यु 1707 ई में हो गई तो अजीतसिंह ने जफरकुली को निकाल कर जोधपुर पर अपना अधिकार

1 पूर्वोद्धृत पृ 256-57

स्थापित कर लिया। इसी तरह मडता, साजत पाली आदि स्थान भी उसके हाथ आ गए। एक लम्बे सघष के बाद राठौडो का अधिकार मारवाड म पुन जम गया और वहाँ मुगलो का प्रभाव समाप्त हुआ।[1] यह वृतान्त मीरात ए अहमदी व जोधपुर की ख्यात से पुष्ट होता है।

अजीतसिंह व परवर्ती मुगल सम्राट—औरगजेब की मृत्यु के बाद शाहजादा मुअज्जम शाह आलम के नाम से गद्दी पर बठा तो अजीत द्वारा उसकी उपेक्षा करने पर जोधपुर पर मुगल आक्रमण हुआ किन्तु आमेर के शासक जयसिंह की मध्यस्थता से समझौता हो गया। शाह आलम ने अमरसिंह व जयसिंह द्वारा बादशाह बहादुरशाह की उपेक्षा करने पर जोधपुर व आमेर को खालसा कर लिया। इस बार मेवाड के महाराणा अमरसिंह द्वितीय के साथ जयसिंह व अजीतसिंह एव दुर्गादास के मध्य 1708 ई म सन्धि हुई व मेवाड राजकुमारी का विवाह जयसिंह से हुआ।

डा शिवचरण मेनारिया के अनुसार 1708 ई की इस त्रिशासकीय सन्धि के परिणामस्वरूप राजस्थान के तीन राज्यो—उदयपुर आमेर तथा जोधपुर म पारस्परिक मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हुए। कूटनीतिक स्तर पर असफलता पाने पर सवाई जयसिंह तथा अजीतसिंह ने शक्ति बल से अपने अपने राज्य प्राप्त करने का निश्चय किया। त्रिशासकीय सन्धि के अनुसार वचनबद्ध महाराणा ने साँवल दान तथा चतुभुज महासहानी के नेतृत्व म मेवाड की सेनाए उनकी सहायता थ उनके साथ रवाना की। जुलाई 1708 मे तीनो राज्यो की सम्मिलित सेना ने जोधपुर पर आक्रमण करके वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया।[2] इस प्रकार अजीतसिंह का जोधपुर पर पुन अधिकार हुआ। अजीतसिंह ने जयसिंह को भी आमेर पर अधिकार करने म सैनिक सहायता दी।

जब फर्रुखसियर बादशाह बना तो उसने अजीतसिंह की मुगल विरोधी कार्यवाही के कारण मारवाड पर आक्रमण हेतु सेना भेजी किन्तु मुगलो की शर्तों के अनुसार अजीतसिंह ने सन्धि कर ली और अपनी पुत्री इन्द्र कुवरी का विवाह फर्रुखसियर स 1715 म कर दिया। मुहम्मद शाह के बादशाह बनने पर अजीतसिंह को अहमदाबाद का सूबेदार बनाया गया।

अजीतसिंह की हत्या—23 जून 1724 ई को अजीतसिंह की हत्या कर दी गई। हत्या के आरोप म उसके पुत्र अभयसिंह को दोषी मानने सम्बन्धी विभिन्न मतो की समीक्षा करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा ने निष्कर्ष निकाला है कि 'सम्भवत अभयसिंह अजीत के लम्बे शासनकाल से अधिकार के लिए अधीर हो गया था जिसम उसने अपने भाई (बख्तसिंह) को नागौर का प्रलोभन देकर उसे मरवा दिया था।[3] इस प्रकार जन्म से मृत्यु पर्यन्त अनेक कष्ट झेलने के बाद अजीतसिंह के जीवन का दुखद अन्त हुआ।

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास प 462
2 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड p 84 85
3 पूर्वोद्धृत p 464

दुर्गादास का चरित्र एव व्यक्तित्व

दुर्गादास के प्रारम्भिक जीवन का परिचय पूव म दिया जा चुका है तथा राजपूतो के स्वाधीनता युद्ध म उसकी महत्वपूर्ण भूमिका एव उसकी उपलब्धियो का विवेचन अभी हो चुका है। निशासकीय सधि के अनुसार जब शक्ति बल स अजीत सिंह का अधिकार जोधपुर पर हो गया तथा जयसिंह के राज्य आमेर का पुन अधिकृत करने हेतु जब साँभर क युद्ध म विजय प्राप्त करने के बाद सेना डेरे डाल हुए थी तो अजीतसिंह ने दुर्गादास का अपने डेरे स हटाकर सरदारो के डेरे म जाने का कहा तो दुर्गादास अपमानित समझ सकुटुम्ब मारवाड छोड मेवाड के महाराणा अमरसिंह द्वितीय की सेवा म चला गया था जहाँ उसे विजपुर की जागीर दी गई और रामपुरे का हाकिम नियुक्त किया गया। रामपुरे म ही 22 नवम्बर 1718 ई को उसकी मृत्यु हो गई। क्षिप्रा नदी के तट पर उसका दाह सस्कार किया गया।

दुर्गादास की उपलब्धियो के आधार पर इतिहासकारो ने उसका भिन्न भिन्न दृष्टियो म मूल्याकन किया है। दुर्गादास का दुखद अन्त देखकर डा वी एस भार्गव का मत है कि 'दुर्गादास राठौड जिसने अजीतसिंह को नवजीवन देकर मारवाड म राठौडो की सत्ता को बनाए रखा वह देश भक्त उज्जैन के पास 1718 ई म एक देश स निकाले गए व्यक्ति की हैसियत से मरा।[1] सर यदुनाथ सरकार के अनुसार उस न मुगलो का धन विचलित कर सका न ही मुगल शक्ति उसके दृढ हृदय को पीछे हटा सकी। वह एक वीर था जिसम राजपूती साहस व मुगल मन्त्री सी कूटनीति थी। इसी के गुणगान म इसीलिए भाट गाते हैं कि ह माता पूत ऐसो जण जसा दुर्गादास।'[2] डा ओझा ने लिखा है कि अपूर्व वीरता स्वामिभक्ति युद्ध कौशल राजनैतिक योग्यता और स्वार्थ त्याग ने वीर दुर्गादास का नाम राठौड वश के इतिहास म अमर कर दिया।'[3] डा रघुवीरसिंह ने दुर्गादास के लक्ष्य की ओर इंगित कर कहा है कि 12 मार्च 1707 को प्रथम बार अपनी इस वश परम्परागत राजधानी (जोधपुर) मे अजीतसिंह ने प्रवेश किया और अपने पतृक किले को गगा जल व तुलसी स शुद्ध किया। यो 28 वर्ष के अनवरत प्रयत्न के बाद दुर्गादास की जीवन साधना सफल हुई।'[4]

डा गोपीनाथ शर्मा ने दुर्गादास की उपलब्धियो का सर्वेक्षण करते हुए उसके चरित्र की विभिन्न विशेषताओं का इस प्रकार उद्घाटन किया है—'जब मारवाड खालसा कर लिया गया और बालक अजीत को शाही दरबार म रखकर इस्लामी शिक्षा व दीक्षा दिए जाने का जाल रचा गया तो दुर्गादास ने सभी राठौड सरदारो का सगठन कर युक्ति से युवराज को शाही चगुल स निकाल लिया। इस सारी घटना म उसने वीरता तथा कूटनीति से काम लिया था। इसके अतिरिक्त सीसोदिया

1 *Dr V S Bhargava* Marwar & the Mughal Emperors
2 सरकार औरगजेब
3 ओझा जोधपुर राज्य का इतिहास भाग–2, p 482
4 डॉ रघुवीर सिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान

राठौड़ संघ के निर्माण का वही प्राण था। दोनों की संयुक्त शक्ति ने मुगलों के दाँत खट्टे कर दिए थे। जब मेवाड़ से संधि हुई तो वह बड़े नाटकीय ढंग से अकबर को निकाल कर मराठा दरबार में ले गया। यह कार्य दुर्गादास की कूटनीति की चाल का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। अन्त में दुर्गादास और अजीतसिंह के साथ संधि करने के लिए सम्राट को बाध्य होना पड़ा।

शाहजादे अकबर के पुत्र बुलन्द अख्तर और उसकी पुत्री सफयतुन्निसा बेगम को अपने पास रख दुर्गादास ने न केवल शाहजादे की मित्रता निभाई थी वरन् एक धर्म सहिष्णु होने का अच्छा परिचय दिया था। जब अवसर आया तो उसने इन दोनों को सम्मानपूर्वक सम्राट के पास भेज दिया।

वह सम्भवतः युद्ध का दौर उसी प्रगति से बनाए रखता यदि अजीतसिंह उसको मारवाड़ में मिलने वाले सम्मान से ईर्ष्या न करता। "यदि दुर्गादास के सिद्धान्तों पर अजीतसिंह चलता तो सम्भवतः मुगल मारवाड़ सम्बन्ध की इतिश्री बड़े गौरव के साथ होती।"[1]

डॉ. एम. दिवाकर ने दुर्गादास का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि यदि दुर्गादास न होता तो मारवाड़ अपनी स्वतन्त्रता खो देता और मुगल राज्य का एक प्रान्त बन जाता। औरंगजेब जैसे शक्तिशाली व हठी राजा का विरोध कर दुर्गादास ने देश प्रेम व स्वामिभक्ति का ही परिचय नहीं दिया वरन् अपने अटूट साहस व बुद्धि का परिचय देकर राजपूतों के इतिहास को गौरवान्वित किया।[2] इतिहासकारों के अतिरिक्त मारवाड़ के अनेक कवियों ने भी दुर्गादास की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। एक जाट कवि राम की ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

"डकर टकर ढोल बाजे दे दे ठोर नगारा की।
आसे घर दुर्गा नहीं होता सुन्नत होती सारा की॥"

उपरोक्त पंक्तियाँ मुंशी देवी प्रसाद ने अपनी कृति 'होनहार बालक' में उद्धृत की हैं।

1-2 पूर्वोद्धृत पृ 257एवं 467

7 सत्रहवीं शताब्दी में मेवाड़

(Mewar in the 17th Century)

सत्रहवीं शताब्दी में मेवाड़ का अध्ययन महाराणा अमरसिंह (1597-1620 ई) महाराणा कर्णसिंह (1620 1628 ई) महाराणा जगतसिंह (1628 1652 ई) महाराणा राजसिंह (1652 1680 ई) महाराणा जयसिंह (1680 1698 ई) तथा महाराणा अमरसिंह द्वितीय (1698 1710 ई) के राज्य-काल में हुई मेवाड़ की प्रगति एवं मेवाड़ मुगल सम्बन्धों की दिशा प्रकट करता है। अध्याय-4 के अन्तर्गत हम मेवाड़ के महाराणा प्रताप का अध्ययन कर चुके हैं। प्रताप की मृत्यु के बाद उनका पुत्र अमरसिंह मेवाड़ का शासक बना जिसने अपने पिता प्रताप के समय में चल रहे मुगलों के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा किन्तु मुगलों से संधि के फलस्वरूप मेवाड़ के इतिहास में एक नया मोड़ आया जो सत्रहवीं शताब्दी में हुए मेवाड़ के शासकों के समय में सुखद एवं दुखद परिणामों के रूप में दृष्टिगत हुआ। अतः इस अवधि के अन्तर्गत मेवाड़ के महाराणाओं का संक्षिप्त परिचय एवं महाराणा राजसिंह व औरंगजेब के मध्य संघर्ष का विस्तृत अध्ययन करना आवश्यक है।

महाराणा अमरसिंह (1597–1620 ई)
(Maharana Amar Singh 1597–1620 A D)

मेवाड़ की सुव्यवस्था—महाराणा अमरसिंह अपने पिता महाराणा प्रताप की 16 जनवरी, 1597 ई को हुई मृत्यु के बाद मेवाड़ का शासक बना। डॉ गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"राणा प्रताप ने जितना सम्भव था शासकीय तथा जनजीवन के सम्बन्ध में व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया तथापि कुछ ऐसे पहलू बचे थे जिनके ऊपर ध्यान देना आवश्यक था। इसी प्रकार उदयपुर के समय में चलने वाले अकबर के मेवाड़ को दबाने के प्रयत्न समाप्त नहीं हुए थे। प्रताप की मृत्यु के बाद जब राणा अमरसिंह मेवाड़ का शासक बना तो वह इन सभी बातों के लिए सजग था। उसने अपने पिता के साथ युद्ध तथा राज्य की गतिय

का अच्छा अनुभव था।[1] अत मेवाड मुगल सघर्ष के मध्य मिले अन्तराल में महाराणा अमरसिंह ने मेवाड की सुव्यवस्था हेतु जागीरदारों के परस्पर वैमनस्य को कम करने का प्रयास किया, राजकीय आय के साधनों को बढ़ाया, उजड़ी हुई बस्तियों को पुन बसाया तथा न्याय व्यवस्था सुधारने व किलों के निर्माण तथा मरम्मत पर विशेष ध्यान दिया।

मुगल-आक्रमण एव प्रतिरोध—महाराणा अमरसिंह के समय मुगलों के निम्नांकित सैनिक अभियान मेवाड पर किए गए—

(i) अकबर के आदेश से 1599 ई शाहजादा सलीम ने मेवाड पर आक्रमण किया किन्तु अपनी उदासीनता के कारण वह उदयपुर तक जाकर लौट गया। इधर महाराणा ने बागोर, मांडलगढ़ व ऊटाला के मुगल थानों पर आक्रमण कर उन पर अधिकार कर लिया। युद्ध में अनेक मुगल सैनिक मारे गए।

(ii) 1605 ई में जब जहाँगीर मुगल सम्राट बना तो उसने परवेज, आसिफखाँ, जफर बेग और सागर को मेवाड अभियान के लिए भेजा। राणा ने देसूरी, बदनौर, माण्डलगढ़ और माण्डल के मोर्चों पर मुगलों का तीव्र प्रतिरोध किया और इस अभियान को विफल बना दिया।

(iii) 1608 ई में उसने महाबत खाँ के नेतृत्व में मेवाड के विरुद्ध सेना भेजी जिसने गिर्वा पहाड़ों तक पहुँच कर अनेक राजपूतों को बंदी बनाया किन्तु बाघसिंह व मेघसिंह ने रात्रि के समय किए गए गुरिल्ला छापों में मुगलों को काफी परेशान किया। तग आकर महाबत खाँ सागर को चित्तौड व जगन्नाथ कछवाहा को माण्डल छोड कर वापस चला गया।

(iv) 1609 व 1612 ई में अब्दुल्ला व राजा बासू को क्रमश मेवाड के विरुद्ध भेजा गया जिन्होंने राणा को चावण्ड व मेरपुर छोड़ने पर विवश किया किन्तु मालवा, गुजरात, अजमेर व गोडवाड तक छापे मार कर राणा के सैनिकों ने मुगलों को तग किया।

(v) 1613 ई में जहाँगीर मेवाड अभियान हेतु स्वय अजमेर गया व शाहजादा खुर्रम को इस अभियान की कमान सौंपी। खुर्रम ने चारों ओर से सैनिक आक्रमण कर राणा को चावण्ड के पहाड़ों में घेर लिया व हारे हुए थानों पर पुन अधिकार किया व नये थाने बढ़ाये। मुगल अभियान से मेवाड की दशा शोचनीय हो गई।

मेवाड-मुगल सधि (1615)—मुगल अभियान के कारण मेवाड की दशा दिन प्रति दिन खराब होती गई। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—"इस

1 डा गोपीनाथ शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ 337

लम्बे युद्ध से मेवाड़ की स्थिति मुगलों की सैनिक व्यवस्था और कूटनीति से सोचनीय हो चली। इसमें खेत के खेत नष्ट हो गए। खड़ी फसल तो समाप्त हो गई परन्तु अगली फसल बोने की भी आशा न रही। गाँव के गाँव उजड़ गए बस्तियों में आग लगा दी गई और पशु धन नष्ट हो गया। सबसे बड़ी अपमानजनक बात यह थी कि विजेताओं ने स्त्रियों व बच्चों को गुलाम बनाकर बेचना शुरू कर दिया। मन्दिर और सार्वजनिक स्थान ढाह दिए गए। दस्तकार और कृषक बिना काम के हाथ पर हाथ रखकर बैठ गए। इनमें से कई बेघरबार हो गए। सारी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चली। राज्य की हालत दुष्काल से भी भयंकर बन गई। अनुभवी राजपूत योद्धाओं के मारे जाने से सेना में एक भारी कमी का अनुभव होने लगा। सामन्तों के परिवार के परिवार नष्ट हो गए जिनमें सिवा में अल्प वयस्क बच्चों या बेवाओं का समुदाय मात्र रूप बचा रहा।'[1] इस विषम परिस्थिति में राणा ने अपने सामन्तों से मन्त्रणा कर सामूहिक निर्णय लिया कि मुगलों को संधि प्रस्ताव भेजा जाये।

फलतः हरिदास झाला और शुभकरण द्वारा शाहजादे खुर्रम के पास संधि प्रस्ताव भेजे गए जिन्हें खुर्रम ने मुल्ला शकरूल्लाह शीराजी और सुन्दरदास के साथ अजमेर सम्राट जहाँगीर के पास भेजा गया। जहाँगीर ने प्रस्तावित शर्तों को अपने पंजे के चिह्न के साथ स्वीकृत कर राणा के पास भिजवा दिया। संधि की ये शर्तें निम्नोंकित थी —

(i) राणा स्वयं खुर्रम के समक्ष उपस्थित होगा तथा कुँवर कर्णसिंह को मुगल दरबार में भेजा जाएगा।

(ii) राणा को अन्य अधीन राजाओं की भाँति मुगलों की सेवा की श्रेणी में सम्मिलित होना पड़ेगा किन्तु राणा को दरबार में उपस्थित होना आवश्यक नहीं।

(iii) राणा मुगल सम्राट की सेवार्थ 1000 घुड़सवारों के साथ तत्पर रहेगा।

(iv) चित्तौड़ दुर्ग राणा को वापस दे दिया जाएगा किन्तु राणा उसकी मरम्मत नहीं कर सकेगा।

यह संधि 5 फरवरी 1615 ई. को खुर्रम व राणा के मध्य सम्पन्न हुई।

मेवाड़-मुगल संधि की समीक्षा—इस संधि को अपमानसूचक मानने वाला प्रमाण श्यामलदास ने राणा की संधि के पश्चात् की मनोदशा को मानते हुए कहा है कि— कुँवर कर्णसिंह अजमेर से निकलकर अपने मुल्क मेवाड़ का जितना हो सका आराम करते हुए उदयपुर पहुँचे और महाराणा को बड़ी हार रंजीदा हालत में पाया। वह अपने महल अमर में एकान्त निवास कर रहे थे। कर्णसिंह

1 पूर्वोद्धृत p 339-40
2 *Dr G N Sharma* Mewar and the Mughal Emperors p 234

के आते ही राज्य का कुल काम महाराणा अमरसिंह ने उनके सुपुर्द कर दिया।[1] संधि के पूर्व भी राणा की मनोदशा इस संधि को अपमानजनक समझने में सहायक है। श्यामलदास के शब्दों में—'दिन दिन मेवाड़ी राजपूतों का बल कम होता जाता था। तब सब लोगों ने मिलकर राणा को कहा, अब सुलह किए बगैर राज्य में रहना कठिन है। राणा को यह सलाह अच्छी नहीं लगी। उन्होंने खान खाना अब्दुल रहीम के पास एक दोहा इस आशय का लिख भेजा—

गाड कछ्वाहा राठवड़ गोरवा जाय करत।
कह जो खानाखान ने वनचर हुआ फिरत॥

इसके उत्तर में खानखाना ने लिखा—

धर रहसी रहसी धरम खप जासी खुरसाण।
अमर विशंभर ऊपरे राखो निहचौ राण॥

इसका अभिप्राय यह रहा कि आराम से रहना अच्छी है और राणा ने सुलह के विचार को मंजूर नहीं किया।'[2]

कुछ इतिहासकारों ने संधि में वर्णित चित्तौड़ के किले की मरम्मत न कराने व मुगल सम्राट की सहायतार्थ सेना भेजने की शर्तों को अपमानजनक माना है किन्तु डा. गोपीनाथ शर्मा ने संधि का समर्थन करते हुए कहा है कि—"इस संधि में राज्य के आन्तरिक शासन में सम्राट द्वारा हस्तक्षेप करना या राणा का मुगल दरबार में हाजिर होना अपेक्षित नहीं था। न उस मुगलों के लिए डोला भेजने की आवश्यकता थी। यदि समय पर संधि न की गई होती तो मुगल बन से छोटी सी मेवाड़ की रियासत समाप्त हो जाती। वस्तुतः कहना चाहिए कि इस संधि ने कुछ शांति का अवसर दे मेवाड़ के वीरों में फिर से युद्ध लड़ने की क्षमता पैदा कर दी। यदि भावुकता को पृथक कर दिया जाए तो यह संधि मेवाड़ के लिए हितकर सिद्ध हुई।[3]

अतः इस संधि ने मेवाड़ को शांति एवं प्रगति का अवसर देने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। 26 जनवरी 1620 ई. में अमरसिंह का उदयपुर के निकट आहड़ में देहावसान हो गया।

राणा अमरसिंह के चरित्र एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन—कर्नल टाड के मतानुसार— राणा अमरसिंह प्रताप और अपने कुल का सुयोग्य वंशधर था। वह वीर पुरुषों के समस्त शारीरिक और मानसिक गुणों से सम्पन्न तथा मेवाड़ के राजाओं में सबसे अधिक ऊंचा और बलिष्ठ था। वह उदारता और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण सरदारों की ओर न्याय तथा दयालुता के कारण प्रजा का भी प्रिय था।[4] डा. ओझा ने भी कहा है कि—'महाराणा अमरसिंह वीर पिता का

1–2 श्यामलदास वीर विनोद पृ. 50–51
3 डॉ. गोपीनाथ शर्मा वही p. 338
4 टाड राजस्थान का इतिहास पृ. 220

...र पुत्र था। वह अपने पिता के समय से ही मुसलमानों से लड़ाइयाँ लड़ता रहा ...र उसके पीछे भी अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अनेक लड़ाइयां लड़ा। वह ...र दान के अतिरिक्त नीतिज्ञ, दयालु, अपने सद्गुणों से अपने सरदारों की प्रीति ...म्पादन करने वाला, न्यायी, सुकवि और विद्वानों का आश्रयदाता था।'[1] वस्तुतः ...णा अमरसिंह ने अपने सामन्तों के परामर्श को मानकर सन्धि करने में दूरदर्शिता ... अपने व्यक्तिगत अपमान को भुलाकर राज्य के हित को प्राथमिकता देने में ...द्धिमत्ता का परिचय दिया। उसने अपने सुधारों व मुगलों के प्रतिरोध द्वारा अपनी ...शासन कुशलता व वीरता को प्रकट किया।

...हाराणा कर्णसिंह (1620-1628 ई.)

Maharana Karn Singh (1620-1628 A. D.)]

महाराणा कर्णसिंह के राज्याभिषेक के अवसर पर जहाँगीर ने राणा को ...म्बी फरमान व खिलअत प्रदान की। उसके समय सन्धि के परिणामस्वरूप मुगलों ...न सम्बन्ध अच्छे रहे व युद्ध में क्षतिग्रस्त मेवाड़ का पुनर्निर्माण हुआ। भावी सम्राट ...शाहजहाँ को उसके शाहज़ादे खुर्रम के रूप में जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह करने पर 1623 ई. में पिछोला झील के महलों में शरण देकर तथा उसे सुरक्षित माण्डू से दक्षिण भेजकर उससे सम्बन्ध और भी प्रगाढ़ कर लिए। शाहजहाँ जब जहाँगीर की मृत्यु के बाद सम्राट बनने आगरा जा रहा था तो राणा ने गोगुन्दे में उसका स्वागत कर उसकी सुरक्षा का प्रबन्ध किया। 1628 ई. में कुछ अस्वस्थता के बाद राणा कर्णसिंह का देहान्त हो गया।

महाराणा जगतसिंह (1628-1652 ई.)

[Maharana Jagat Singh (1628-1652 A. D.)]

राणा कर्णसिंह के देहान्त के बाद उसका पुत्र जगतसिंह राणा के पद पर आरूढ़ हुआ। वह दुहरी नीति का पालन कर राज्य विस्तार के साथ ही मुगलों से सम्बन्ध ठीक बनाए रखना चाहता था। डा. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में—'महाराणा कमजोर शत्रु को दबाता था और प्रबल शत्रु से दबता था और उससे युक्ति से काम निकाल लेता था।'[2]

उसने अपनी राज्य विस्तार की पहली नीति के अनुसार जब शाहजहाँ जुझारसिंह बुन्देला के विरुद्ध युद्ध में व्यस्त था तो उसने देवलिया-प्रतापगढ़ के शासक जसवन्तसिंह द्वारा मेवाड़ के प्रभुत्व की अवहेलना करने पर उसके पुत्र को मरवा दिया किन्तु जब इसकी शिकायत शाहजहाँ से की गई तो सम्राट ने प्रतापगढ़ को मेवाड़ से अलग कर दिया। फिर भी राणा ने प्रतापगढ़, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा व सिरोही में सेना भेजकर वहाँ लूटपाट की। इस कार्य से जब शाहजहाँ क्रुद्ध हुआ तो उसे शान्त करने हेतु राणा ने अपनी दूसरी नीति के अनुसार 1633 ई. में झाला कल्याणमल के साथ उपहार भेजे।

1. डॉ. ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास
2. पूर्वोक्त, p. 344

राणा जगतसिंह ने चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत कर ख्याति प्राप्त की। उसने ब्राह्मणों को भी प्रचुर दान दिया। उसने महाकाल व ओंकारनाथ की यात्रा की तथा उसकी माता जांबवती ने द्वारिका की यात्रा की। उसने उदयपुर में जगन्नाथ राय का मन्दिर बनवाकर उसमें शिलालेख उत्कीर्ण कराया तथा जग मन्दिर व उदय सागर के महलों का निर्माण भी कराया। उसका देहावसान 10 अप्रेल 1652 ई. को हुआ। उसके बाद उसका पुत्र राजसिंह गद्दी पर बैठा।[1]

महाराणा राजसिंह (1652–1680 ई.)
[Maharana Raj Singh (1652–1680 A.D.)]

सत्रहवीं शताब्दी में मेवाड़ का सबसे प्रतापी शासक राणा राजसिंह हुआ। उसने मुगल सम्राट शाहजहाँ व औरंगजेब के समय अपनी आक्रामक व निर्भीक प्रवृत्ति का परिचय दिया किन्तु मुगलों से सम्बन्ध पूर्ववत् बनाए रखने का भी प्रयास किया।

शाहजहाँ के समय राणा राजसिंह की उपलब्धियाँ—राज्यारोहण के समय शाहजहाँ ने राणा राजसिंह को उपाधि व भेंट के साथ पचहजारी मनसबदार भी बनाया। शाहजहाँ के समय राणा की निम्नांकित उपलब्धियाँ उल्लेखनीय हैं—

(i) **चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत**—श्यामलदास का कथन है कि— 'महाराणा राजसिंह ने गद्दी पर बैठते ही किले की मरम्मत बड़ी तेजी के साथ करवाना शुरू किया। कुछ दिनों बाद बादशाह के मुलाजिम मालवा तथा अजमेर में मन्दिरों को गिराया करके गायब आदि करने लगे तो राणा के कर्मचारी भी छेड़छाड़ करने में लग गए।'[2] राणा राजसिंह के पिता जगतसिंह ने चित्तौड़ दुर्ग की मरम्मत आरम्भ की थी जिसे राजसिंह ने पूरा कराया। जगतसिंह के समय तो शाहजहाँ ने इसे किसी प्रकार सहन किया किन्तु राजसिंह के कार्य को वह सहन न कर सका। उसने गढ़ को सेना सहित सादुल्ला खाँ को चित्तौड़ भेजा जिसने तुरन्त किले के कंगूरों व बुर्जों को गिरा दिया। राणा राजसिंह ने राजपूतों को चित्तौड़ से हटा कर उस समय युद्ध न करने की दूरदर्शिता दिखाई। जब शाहजहाँ से संधि हो गई तो राणा ने अपने पुत्र को शाहजहाँ के दरबार में भेज दिया जहाँ उसे सम्मानित किया गया।

(ii) **प्रारम्भिक अभियान-टीका दौड़**—राणा राजसिंह चित्तौड़ दुर्ग की बुर्जों को तोड़ने पर मन ही मन बड़ा क्षुब्ध था और इस अपमान का बदला लेने हेतु अवसर की तलाश में था। 1657 ई. में शाहजहाँ की बीमारी व उसके शाहजादों में उत्तराधिकार युद्ध की तैयारी ने यह अवसर राणा को प्रदान किया। जब औरंगजेब ने सहायतार्थ राणा को पत्र लिखे तो राणा ने उसके पत्रों के उत्तर तो दिए किन्तु कोई सैनिक सहायता दक्षिण में औरंगजेब के पास न भेजी।

डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— 'राणा ने इस अवस्था का लाभ उठाना निश्चय किया। वह जानता था कि अभी केन्द्रीय शक्ति का पूरा ध्यान राज

1 *Dr G N Sharma* Mewar & the Mughal Emperors p 142-52
2 श्यामलदास वीर विनोद पृ 6-

कुमारों की दुराचार के प्रतिकार में लगा हुआ है और राजकुमार अपने स्वार्थ की सिद्धि में लगे हुए हैं। ऐसे समय में उसके मेवाड़ पर सिद्धि पर सक्रिय रुकावट मुगल शक्ति की ओर से नहीं हो सकेगी। 'टीका दौड़' के उत्सव का बहाना बनाकर जिसमें मुहूर्त से वर्ष की पहली शिकार का आयोजन राज्य की सीमा के बाहर किया जाता था, राणा ने 2 मई 1658 ई. में अपने राज्य के तथा बाहरी मुगल थानों पर हमले करना आरम्भ कर दिए।'[1] श्यामलदास के शब्दों में— टीका दौड़ का मतलब है कि "इस गद्दी नशीन होकर दुश्मन के इलाके लूट और अपनी धाक जमाए। बादशाह को इसकी खबर पहले ही लग गई थी। महाराणा राजसिंह ने प्रारम्भ से ही बड़ी सख्त कार्यवाही की। उससे बादशाह अधिक क्रुद्ध हुआ। लेकिन दारा शिकोह मेवाड़ का मददगार था। इसलिए मामला टलता रहा।"[2] अतः स्पष्ट होता है कि राणा ने टीका दौड़ की आड़ में अपने उन स्थानों को हथियाने का प्रयास किया जिन पर मुगल आधिपत्य हो गया था।

राणा ने 2 मई, 1658 ई. में ऐसे अभियान आरम्भ किए। उसने दरीबा, माण्डल, बनेड़ा, शाहपुरा, खरवड़, जहाजपुर, सावर, फूलिया आदि मुगल थानों पर हमला कर उन्हें लूटा। इसी समय उत्तराधिकार के युद्ध में राणा ने दारा की सहायता करने से इंकार किया क्योंकि औरंगजेब फतहाबाद में विजयी हो गया था। राणा ने टोडा, मालपुरा, टोंक, चाकसू, लालसोट को भी लूटा और जून माह तक अपनी राजधानी लौट गया। डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— इस टीका दौड़ अभियान में राणा को लाखों रुपया की सम्पत्ति मिली और वह खोये हुए भागों को अपने राज्य में सम्मिलित कर सका। औरंगजेब ने भी शासक बनते ही राणा के पद को 6 हजार जात और 6 हजार सवार बढ़ा दिया और गयासपुरा, डूंगरपुर, बांसवाड़ा के परगने उसके अधिकार क्षेत्र में कर दिए।[3]

(i) **औरंगजेब के समय राणा राजसिंह की उपलब्धियां**—औरंगजेब राणा से अपने विरुद्ध दारा की सहायता न करने के कारण प्रसन्न था। जब वह बादशाह बना तो उसने राणा को डूंगरपुर, बांसवाड़ा और देवलिया पर कब्जा करने हेतु 1659 ई. में फरमान जारी किया। इसके फलस्वरूप राणा के आक्रमण से भयभीत हो इन राज्यों के शासकों ने राणा की अधीनता स्वीकार कर ली। किन्तु किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमती के प्रसंग में औरंगजेब राणा से क्रुद्ध हुआ।

(ii) **किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमति से विवाह**—उपरोक्त राज्यों को अधीन करने के बाद अगले वर्ष ही किशनगढ़ की राजकुमारी चारुमति से राणा ने विवाह कर उससे विवाह के इच्छुक औरंगजेब को अप्रसन्न कर दिया। श्यामलदास के अनुसार औरंगजेब ने कृष्णगढ़ के राजा रूपसिंह की अति सुन्दर पुत्री चारुमति से विवाह करने की इच्छा प्रकट की जिस पर उसके मसवरे चारुमति के भाई मानसिंह

न स्वीकार कर लिया किन्तु चारुमति ने इस अस्वीकार कर राणा राजसिंह से उसकी रक्षा कर विवाह करने हेतु पत्र लिखा। राणा तुरन्त सेना सहित किशनगढ़ आया और मानसिंह को बन्दी बना चारुमति से विवाह कर उसे उदयपुर ले गया।[1] टाड के अनुसार इस समय राणा के चूडावत सरदार ने औरंगजेब (जो सेना ले किशनगढ़ आ रहा था) से युद्ध कर वीरगति प्राप्त की तथा राणा को चारुमति से विवाह कर उदयपुर चले जाने का समय दिया।[2] औरंगजेब की इस प्रसंग के प्रति प्रतिक्रिया को डा शर्मा ने इस प्रकार व्यक्त किया है— औरंगजेब पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई इस सम्बन्ध में कहना तो बड़ा कठिन है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट अप्रसन्नता को सम्भवत पी गया और राणा तथा मुगल राज्य के सम्बन्ध पूर्ववत् बने रहे।[3] इससे प्रकट होता है कि औरंगजेब राणा की शक्ति से आतंकित था और इस अपमान का बदला लेने हेतु उपयुक्त अवसर की तलाश में था।

(iii) औरंगजेब की प्रतिक्रियावादी नीति व राणा का व्यवहार—1669 ई में औरंगजेब ने मन्दिरों को नष्ट करने की आज्ञा प्रसारित की तथा 2 अप्रेल 1679 ई में उसने हिन्दुओं पर जजिया कर लगा दिया। जजिया के विरोध में राणा ने एक पत्र औरंगजेब को लिखा जिसे टाड ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। औरंगजेब इस पत्र को पढ़कर क्रुद्ध हुआ।

(iv) मेवाड-मुगल युद्ध—औरंगजेब की प्रतिक्रियावादी नीति से राणा राजसिंह ने मुगलों से युद्ध करने की तैयारी आरम्भ कर दी। 1674 ई में उसने गिवा (देबारी) के फाटक पर सुदृढ़ किवाड लगवाए तथा पर्वतों पर दीवारों और बुर्जों को अभेद्य बनाया। अध्याय-6 में दुर्गादास के नेतृत्व में जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह की रक्षार्थ मुगलों से युद्ध व मेवाड से सहायता व अजीतसिंह को शरण देने व मारवाड साथ दिया मुगल संघर्ष का विवरण दिया जा चुका है। मारवाड मेवाड गुट बन जाने पर औरंगजेब ने उसके विरुद्ध अभियान किया।

30 नवम्बर 1679 ई में औरंगजेब अजमेर से माण्डल होते हुए मेवाड की ओर बढ़ा। डा गिवचरण मेनारिया के शब्दों में— माण्डल से उदयपुर की ओर प्रस्थान करते समय बादशाह ने मेवाड के समस्त उत्तरी भू भाग को जीतकर माण्डल पर बदनोर चित्तौड़गढ़ बरठ मसरावगढ़ नीमच जीरण ऊंठाला मगरोप कपासन, राजनगर लाखला मथुरा नगरा गगरार बगू बनेडा तथा जिजाजिया आदि स्थानों पर सैनिक चौकियाँ स्थापित कर दी। तदुपरान्त सम्पूर्ण व्यवस्था से आश्वस्त होकर उसने देवारी के मार्ग से मेवाड की राजधानी उदयपुर पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान किया। 4 जनवरी 1680 ई को देवारी पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया और वहां के दरवाज तुडवाकर मुगल चौकी की

1 श्यामलदास वीर विनोद p 74
2 टॉड राजस्थान का इतिहास पृ 226
3 पूर्वोद्धत, पृ 347

स्थापना कर दी।'[1] उदयसागर के समीप 24 जनवरी 1680 ई को मुगल सेना को राणा की सेना ने लूट कर बादशाह को चित्तौड़ की ओर जाने पर बाध्य किया। राजनगर के मोर्चे पर मुगल सेना ने राणा की सेना को लूटा। एक दूसरे मुगल सैन्य दल ने उदयपुर नगर में प्रवेश कर जगन्नाथ मंदिर व अन्य 173 मन्दिरों को नष्ट किया। चित्तौड़ में बादशाह ने 66 देवालयों को नष्ट किया तथा महाशिर खाँ मेवातिया को वहाँ का गुजवरदार नियुक्त कर 6 मार्च 1680 ई को अजमेर लौट गया। राजपूतों ने गुरिल्ला युद्ध नीति का अवलम्बन कर मुगल सेना को आतंकित कर दिया। संख्या में अधिक होने पर भी शाही सेना कोई आशातीत सफलता अर्जित न कर सकी।[2]

शाहजादा अकबर व उसका सेनापति तहव्वुर खाँ राणा की सेना के विरुद्ध कोई सफलता प्राप्त न कर सके। राणा के राजकुमार भीमसिंह ने ईडर व गुजरात के प्रदेशों को लूटा। भीमसिंह को वापस मेवाड़ बुला कर राणा ने बदनौर में अकबर के आक्रमण को विफल किया। औरंगजेब ने 14 जून 1680 ई को शाहजादा आजम को मेवाड़ अभियान का नेतृत्व सौंपा किन्तु राणा की छापामार युद्ध नीति के विरुद्ध कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। नाडोल के युद्ध (सितम्बर 1680 ई) में मारवाड़ मेवाड़ सेना को सफलता न मिली। राणा व दुर्गादास ने शाहजादा अकबर को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और अकबर को औरंगजेब के विरुद्ध विद्रोही बनाने में सफलता मिली। इसी समय 22 अक्टूबर, 1680 ई को राणा राजसिंह की ओड़ा ग्राम में मृत्यु हो गई।

राणा राजसिंह का व्यक्तित्व—डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार– 'महाराणा राजसिंह रण कुशल, साहसी, वीर तथा निर्भीक शासक था। उसे कला के प्रति रुचि थी जिसके फलस्वरूप उसने राजसमुद्र के बांध को कला कृतियों से अलंकृत किया। वह स्वयं अच्छा कवि था और विद्वानों का प्रशंसक तथा पोषक था। उसके समय में अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ जो उसकी कलात्मक प्रवृत्ति और धर्म निष्ठा के प्रमाण हैं। औरंगजेब जैसे शक्तिशाली मुगल शासक से मैत्री सम्बन्ध बनाए रखना तथा आवश्यकता आने पर शत्रुता बढ़ा लेना उसकी समयोचित नीति का फल है।[3] डा शिवचरण मेनारिया के शब्दों में— महाराणा राजसिंह रण कुशल, साहसी, वीर, निर्भीक एवं धर्मनिष्ठ राजा था। उसने औरंगजेब द्वारा हिंदुओं पर जजिया कर लगाने तथा हिंदू मंदिरों व मूर्तियों तोड़ने का विरोध किया। श्री नाथजी' की मूर्ति को मेवाड़ में स्थापित करवा कर उन्होंने अपनी धर्म निष्ठा का परिचय दिया। मुगलों के विरुद्ध चल रहे युद्धों में उसके द्वारा प्रदर्शित वीरता तथा बुद्धिमत्ता प्रशंसनीय है। औरंगजेब के विरोध के बावजूद अजीतसिंह को मेवाड़ में शरण देना उसकी परम्परागत शरणागत वत्सलता का श्रेष्ठ उदाहरण

1 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड़, p 25–26
2 सरकार औरंगजेब भाग–3 p 344–47
3 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 353

है। उसका स्वभाव क्रोधी था। उसे दान पुण्य में विशेष रुचि थी। जनसाधारण के लिए उसके द्वारा निर्मित राजसमुद्र झील सिंचाई तथा पीने के पानी के लिए बहुत सहायक रही। वह कवियों तथा विद्वानों का सम्मान करने वाला एक योग्य शासक था।'[1] मेवाड़ मुगल सम्बन्धों का गहन अध्ययन करने वाले इतिहासकारों के इन कथनों से राणा राजसिंह के बहुआयामी व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। कर्नल टाड ने उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कहा है कि— राणा राजसिंह ने अपने शासनकाल में राज्य के वैभव के लिए बहुत से काम किए। मैं समझता हूं कि संसार का कोई भी न्यायप्रिय मनुष्य अवश्य ही राणा राजसिंह की प्रशंसा करेगा।'[2]

महाराणा जयसिंह (1680-1698)

महाराणा राजसिंह के समय मुगलों से संघर्ष जारी रखा गया। शाहजादा अकबर व उसके सेनापति तहव्वुर खां के विरुद्ध राणा के भाई भीमसिंह ने मुगल आक्रमण का असफल प्रतिरोध किया। यह युद्ध 22 नवम्बर 1680 को देसूरी के दर्रे के निकट भीलवाड़ा स्थान पर हुआ था। मुगल सेना ने राजनगर पर अधिकार किया किन्तु गोगुन्दा के पास राणा की सेना ने उसे भगा दिया। अन्त में राणा को शाहजादा अकबर को बागी बनाने में सफलता मिली और उससे संधि हुई। 1 जनवरी 1681 ई. को अकबर ने नाडोल में स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया। औरंगजेब ने उसके विद्रोह दमन हेतु षड्यन्त्र का मार्ग अपनाया। एक पत्र द्वारा दुर्गादास के मन में अकबर के प्रति संदेह उत्पन्न कर उसमें पृथक कर दिया किन्तु शीघ्र ही बादशाह की चाल का पता चलते ही दुर्गादास ने अकबर को सुरक्षित मेवाड़ से दक्षिण में शम्भाजी के संरक्षण में जून 1681 ई. में भिजवा दिया। 24 जून को मुगल मेवाड़ संधि सम्पन्न हुई।

मुगल मेवाड़ संधि—इस संधि की शर्तें निम्नांकित थीं—

(1) महाराणा पुर माण्डल तथा बदनौर के परगने जजिया' के एवज में मुगल साम्राज्य को सौंप देगा।

(2) राणा के पुरखों की सारी भूमि राणा को वापस लौटा दी जाएगी।

(3) राणा को पदवी और पाँच हजार का मनसब जो पूर्व में राणा के पुरखों को प्राप्त था पुनः राणा को प्रदान किया जाएगा।

(4) मुगल सेनाएं मेवाड़ से हटा ली जायेंगी।

डा. सेनारिया ने इस संधि के परिणामों को व्यक्त करते हुए कहा है कि— 1681 ई. की मेवाड़ मुगल संधि से औरंगजेब मेवाड़ के महाराणा को राठौड़ सीसोदिया संगठन से अलग करने में सफल हो गया। राठौड़ों की सहायता नहीं करने तथा अजीतसिंह को मेवाड़ में संरक्षण न देने की बात राणा को स्वीकार कराकर औरंगजेब अपने ध्येय में सफल रहा। उसने जजिया कर नहीं देने वाले

1 डा. शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड़ p 39 90
2 टाड राजस्थान का इतिहास पृ 232 33

महाराणा से 'जजिया' की एवज में परगने प्राप्त करके ही सन्तोष कर लिया। इधर महाराणा को भी मेवाड़ के मुगलों द्वारा जीते गए क्षेत्र वापस मिल गए उनका पैतृक राज्य ज्यों का त्यों बना रहा तथा मेवाड़ राज्य को युद्ध से भी मुक्ति मिल गई।"[1] वस्तुतः इस सन्धि से मेवाड़ मुगल सम्बन्धों का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ तथा राणा जयसिंह को युद्ध पीड़ित मेवाड़ के पुनर्निर्माण का अवसर मिला।

राणा जयसिंह की विलासी प्रवृत्ति के कारण युवराज अमरसिंह ने सशस्त्र विद्रोह किया। इस विद्रोह को सलूम्बर के राव केशरीसिंह ने प्रोत्साहित किया था। युवराज ने उदयपुर आकर अपना राज्याभिषेक भी करवा लिया। पिता पुत्र में भीलवाड़ा में 1692 ई. में युद्ध की स्थिति टालने व समझौता कराने में कुछ सामन्त सफल रहे। समझौते के अनुसार युवराज को राजनगर की जागीर दी गई तथा पिता पुत्र द्वारा परस्पर एक दूसरे के कार्य में दखल न देना भी स्वीकृत हुआ। राणा जयसिंह ने अपनी राजकुमारियों के विवाह 1696 ई. में कोटा व बूंदी के राजघरानों में कर उनसे मधुर सम्बन्ध बना लिए। 23 सितम्बर 1698 ई. को राणा जयसिंह का 45 वर्ष की आयु में देहान्त हो गया। उसके बाद महाराणा अमरसिंह द्वितीय बना। राणा जयसिंह ने 4 तालाब बनवाए जिनमें जयसमुद्र विश्व की सबसे बड़ी कृत्रिम झील है। उसने जयनगर व भदेसर कस्बे भी बसाए व अनेक महल मन्दिर व बाग बनवाए।

महाराणा अमरसिंह द्वितीय (1698-1710 ई.)

सत्रहवीं शताब्दी में मेवाड़ के अन्तिम महाराणा अमरसिंह द्वितीय थे। इस अवधि में राणा ने डूंगरपुर, बांसवाड़ा व देवलिया पर अभियान कर उन्हें अपने अधीन बनाया। पुर, माण्डल व बदनौर को अधिकृत करने के प्रयास भी किए गए। औरंगजेब ने राणा द्वारा 1000 घुड़सवार भेजने पर पुर, माण्डल व बदनौर के पट्टे दे दिए और प्रसन्न होकर राणा को सिरोही व आबू की जागीर प्रदान की। राणा के मुगलों से सम्बन्ध सामान्य हो गए।

---

1 डॉ. मनोरिया, उत्तर मुगलकालीन मेवाड़, पृ. 52

8

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजस्थान का उदय—1761 तक मराठा-आक्रमणों के प्रति राजपूत नीति

(Rise of Rajasthan in the First Half of 18th Century—Rajput Policy towards Maratha Incursions upto 1761)

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजस्थान का उदय
(Rise of Rajasthan in the First Half of 18th Century)

1700 ई. में आमेर की गद्दी पर सवाई जयसिंह के गद्दी पर बैठने तथा 1707 ई. में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु हो जाने पर मुगल साम्राज्य के पतन से लाभ उठाकर राजस्थान के नरेशों द्वारा अपने राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा ने 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजस्थान के उदय की पृष्ठभूमि निर्मित की। उदयपुर का महाराणा जगतसिंह, जयपुर का सवाई जयसिंह, जोधपुर का महाराजा अभयसिंह तथा अन्य राजस्थान के राज्यों के प्रमुख नरेशों ने पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य से लाभ उठाने तथा मराठों की राजस्थान में घुसपैठ को रोकने हेतु परस्पर एकता स्थापित करने का जो प्रयास किया वह निश्चित ही 18वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजस्थान के एक उदीयमान शक्ति के रूप में उभरने का प्रमाण था। एकता के इस प्रयास की चरम परिणति 1734 ई. में आयोजित हुरड़ा सम्मेलन में हुई जहाँ सभी राजस्थान के प्रमुख नरेशों ने एक संयुक्त मोर्चा बनाने की शपथ ली किन्तु ये प्रयास जैसा कि हम आगे देखेंगे राजस्थानी नरेशों के व्यक्तिगत स्वार्थों व परस्पर फूट के कारण क्रियान्वित न किए जा सके। यदि ये प्रयास सफल हो

जात तो भारत का इतिहास कुछ दूसरा ही होता। राजस्थान को इस अवधि म एक उदीयमान शक्ति के रूप म प्रस्थापित करने म सर्वाधिक योगदान आमेर नरेश सवाई जयसिंह का था। जयसिंह न ही राजस्थान को 18वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध म शक्ति-सम्पन्न बनाने म अन्य राजस्थानी नरेशो का नेतृत्व किया व अपना प्रभुत्व स्थापित किया। डा वी एस भार्गव के शब्दो म— मई 1741 ई के अन्त तक आमेर के शासक के रूप म भी सवाई जयसिंह राजस्थान का सर्वोच्च शासक बन गया था।[1]

अत राजस्थान के उदय का श्रेय सवाई जयसिंह की उपलब्धियो को जाता है जिसने मराठो के प्रति राजपूत नीति का निर्धारण किया। मुगल मनसबदार व सूबेदार के रूप म तथा अन्य राजस्थानी नरेशो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर उनका नेतृत्व कर मराठो स सम्बन्ध स्थापित करने व उनका प्रतिरोध करने म सवाई जयसिंह न अपनी कूटनीतिक कुशलता का परिचय दिया। अत मराठो के प्रति राजपूत नीति के निर्धारण व क्रियान्वयन म उसकी उपलब्धियो के प्रसग म अन्य राजस्थान के राज्यो के योगदान का भी विवरण दिया जाना समीचीन है।

1761 तक मराठा-आक्रमणो के प्रति राजपूत नीति
(Rajput Policy towards Maratha Incursions upto 1761)

मराठा राजपूत सम्बन्धो का आधार

बी एम दिवाकर के अनुसार— मराठा शक्ति के उदय काल स ही मेवाड़ और मराठा सरदारो मे मित्रता प्रतीत होती है। शिवाजी अपने आपको क्षत्रीय और सीसोदिया वश का राजा मानते थे। यही कारण है कि उन्होन वदिक परम्पराओ के अनुसार 1674 ई म अपना राज्याभिषेक करवाया और भारत म सबस अधिक विद्वान पण्डित गाग भट्ट को बुलाकर अपना राज्याभिषेक कराया था।"[2] यद्यपि इतिहासकार यदुनाथ सरकार व ग्रा ट डफ इस स्वीकार नही करते किन्तु राबर्ट ओर्मी न कहा है कि— मराठा साम्राज्य के संस्थापक छत्रपति शिवाजी अपनी उत्पत्ति वदिककालीन क्षत्रियो से मेवाड के महाराणा के द्वारा मानते थे। अत शिवाजी न अपने जीवन म मराठो और राजपूतो के बीच रक्त सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की थी।'[3] सर देसाई व विनायक दामोदर सावरकर न शिवाजी के राजनीतिक आदर्श (हिन्दू पद पादशाही) का आधार राजपूतो और मराठो के बीच रक्त सम्बन्ध स्वीकार किया है। श्यामलदास न कहा है कि— शिवाजी का दादा मालू घोसला मेवाड के सीसोदिया वश का एक योग्य घुडसवार अधिकारी था। 1600 ई मे मालू घोसला न अहमद नगर के सुल्तान की नौकरी कर ली जहाँ मुसलमान पीर शाह सेफर की मिन्नत मानने पर उसके दो पुत्र हुआ

1 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 261
2 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 284
3 *Robert Orml* The Fragements of the Mughal Empire p 5

उसका नाम शाहजी रखा गया। शिवाजी इसी शाहजी के पुत्र थे।"[1] शिवाजी के पुत्र शम्भाजी का विवाह रामनगर की सीसोदिया राजकुमारी से इसीलिए हुआ कि शिवाजी क्षत्रिय थे और उनके पूर्वज मेवाड़ निवासी थे।

राजपूत-मराठा सहयोग—डा वी एस भार्गव ने राजपूतों से इस वंशगत घनिष्ठता के बावजूद राजपूत नरेशों द्वारा शिवाजी के विरुद्ध अभियान करने पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि— फिर भी यह भाग्य की विडम्बना है कि मुगल सम्राट औरंगजेब के शासन काल में शिवाजी के दमन का भार तत्कालीन भारत के दो प्रमुख राजपूत राजाओं—जोधपुर नरेश महाराजा जसवंतसिंह एवं आमेर नरेश मिर्जा राजा जयसिंह के हाथों में सौंपा गया। जयसिंह ने सन् 1666 ई में शिवाजी को समझा बुझाकर औरंगजेब के दरबार में आगरे भिजवा दिया। जब औरंगजेब द्वारा शिवाजी को बन्दी बना लिया गया तो मिर्जा राजा के पुत्र रामसिंह ने अप्रत्यक्ष रूप से शिवाजी की सहायता करके उनकी मुक्ति को सम्भव बनाया। इसका परिणाम यह निकला कि शिवाजी की मृत्यु के बाद उनके पुत्र और उत्तराधिकारी शम्भाजी के शासन काल में दुर्गादास राठौड़ ने औरंगजेब के विद्रोही पुत्र शाहजादा अकबर को शम्भाजी के दरबार में ले जाकर 1685 ई में मारवाड़ के राठौड़ और मराठों के बीच मुगलों के विरुद्ध गठबन्धन करने का प्रयत्न किया। किन्तु यह गठबन्धन सफल न हो सका क्योंकि अकबर द्वारा शम्भाजी के प्रतिद्वन्द्वी राजाराम से सम्बन्ध बढ़ाने पर शम्भाजी ने सन्देह कर उसे शरण नहीं दी। औरंगजेब की चालों व षडयन्त्र के कारण राजपूत मराठा सहयोग नहीं हो सका किन्तु उसकी मृत्यु के बाद यह सहयोग हुआ।

1719 ई में पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने सय्यद बन्धुओं के आमन्त्रण पर दिल्ली की यात्रा की व मराठा मुगल सन्धि हुई किन्तु मराठों की विस्तारवादी नीति के कारण यह सन्धि विफल रही। बालाजी विश्वनाथ के पुत्र बाजीराव प्रथम के कार्यकाल में मराठा राजपूत सहयोग सम्भव हो सका जिसका श्रेय आमेर नरेश सवाई जयसिंह को है। जयसिंह व पेशवा बाजीराव प्रथम की मित्रता दिल्ली में हो गई थी जिसके कारण मुगल मराठा सहयोग हुआ किन्तु दिल्ली में दलबन्दी के कारण सम्राट ने जयसिंह की मराठों को रियायतें देने की बात नहीं मानी और उसे मालवा की सूबेदारी से हटा दिया गया। सवाई जयसिंह की नीति को स्पष्ट करते हुए डा वी एस भटनागर का कथन है कि— जयसिंह ने मराठों व मुगल सरकार के बीच ऐसा समझौता का प्रयत्न किया जो मराठा आकांक्षाओं की बहुत कुछ पूर्ति करते हुए मुगल साम्राज्य व बादशाह के सार्वभौमिक स्तर के विरुद्ध न हो। जयसिंह का विचार था शाहू को जागीरें व मराठा सरदारों को उपयुक्त मनसब देकर उन्हें गिरते हुए मुगल साम्राज्य का प्रमुख आधार बना लिया जाए। इस

1 श्यामलदास वीर विनोद भाग-2 p 1581-82
2 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 247-48

उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1703 ई. के बाद जयसिंह ने अनवरत प्रयत्न किए और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उसका उद्देश्य पूरा हो जाएगा और मराठे एक जिम्मेदार शक्ति के रूप में बादशाह को सार्वभौम मानते हुए साम्राज्य के प्रमुख आधार बन जायेंगे।'[1] किन्तु मुगल सम्राट पर जयसिंह विरोधी तूरानी गुट का प्रभाव अधिक था जिससे उसकी नीति सफल न हो सकी।

सवाई जयसिंह ने अपनी मालवा की सूबेदारी में जो उसे तीन बार प्राप्त हुई (1713, 1730 व 1732 ई. में) मराठों के प्रति अपनी उपरोक्त नीति को कार्यान्वित करना चाहा किन्तु विरोधी गुट के कारण सम्राट ने उसकी योजना सफल न होने दी जिसका परिणाम यह हुआ कि मराठों का प्रवेश मालवा, गुजरात तथा राजस्थान में हुआ और अन्त में वे दिल्ली तक जा पहुंचे।

राजस्थान में मराठा हस्तक्षेप के कारण

वी. एस. दिवाकर ने राजस्थान में मराठों के हस्तक्षेप के निम्नांकित कारण बतलाए हैं[2]—

(i) **राजपूतों की अयोग्यता**—डा. रघुवीर सिंह के अनुसार—"पिता ने पुत्र को और बेटे ने बाप को मारा, कुलीन ललनाओं को धोखा देकर अपने निकटतम प्यारे सगे सम्बन्धियों तक ने भी निःसंकोच विष पिलाया। राजस्थान में सर्वत्र मार काट, घृणित षडयन्त्र, वचन भंग एवं अविश्वसनीय विश्वासघात का दौर दौरा हो गया और उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए दोनों पक्ष वाले विदेशियों से भी सहायता मांगने में नहीं हिचके। यों मराठों का राजस्थान में सर्वत्र प्रवेश हो गया और उन्होंने तथा पिण्डारियों ने जी भर कर राजस्थान को लूटा।[3] ये कथन राजपूतों की अयोग्यता व उसके कारण मराठों की घुसपैठ का कारण प्रकट करते हैं।

(ii) **शिवाजी का मेवाड़ से पैतृक सम्बन्ध**—पूर्व में बताया जा चुका है कि शिवाजी का मेवाड़ के सीसोदिया वंश से पैतृक सम्बन्ध था जिसके कारण मराठे जहाँ एक ओर राजपूतों से सहयोग के आकांक्षी थे वहाँ दूसरी ओर वे शक्ति सम्पन्न बन कर राजपूतों से समानता का व्यवहार चाहते थे किन्तु मुगल नीति के कारण वे सफल न हो सके। जगदीशसिंह गहलोत का यह कथन उपयुक्त है कि—"राजपूतों ने मराठों को एक नवजात शक्ति के रूप में देखकर अवहेलना की और मराठों ने अपनी शक्ति की सफलता स्थापित कर राजपूतों से समानता का व्यवहार चाहा। वे मुगलों के विरुद्ध राजपूतों को अपना सहयोगी नहीं बना सके।[4]

1 डॉ. वी. एस. भटनागर : सवाई जयसिंह
2 वी. एस. दिवाकर : राजस्थान का इतिहास, p. 283-289
3 डॉ. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, p. 167
4 जगदीशसिंह गहलोत : मेवाड़ राज्य का केन्द्रीय शक्तियों से सम्बन्ध, p. 38

(iii) मुगल साम्राज्य की पतनोन्मुख दशा—औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारियों के अयोग्य होने के कारण राजपूत, मराठे व मुसलमान शासकों को भी विरोधी बना दिया। मराठा इतना प्रबल हो गए कि 16 फरवरी 1718 ई. को पेशवा बालाजी विश्वनाथ ने दिल्ली जाकर सय्यद बन्धुओं की सहायता से मुगल सम्राट फर्रुखसियर को मरवा डाला। मुगल सम्राटों की दुर्बलता से मराठों को राजस्थान में हस्तक्षेप करने की प्रेरणा मिली और उन्होंने राजस्थान में धन वसूल करने हेतु उसे दुधारु गाय बना दिया।

(iv) बूँदी, जयपुर व उदयपुर के उत्तराधिकार युद्ध में सवाई जयसिंह की नीति—बूंदी, जयपुर व उदयपुर के उत्तराधिकार के झगड़ों में सवाई जयसिंह ने अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने की महत्त्वाकांक्षा से मराठों को राजस्थान के राज घरानों में हस्तक्षेप करने को उकसाया। मराठों की घुसपैठ की रूपरेखा जयसिंह ने ही तैयार की जो राजस्थान के लिए हानिकारक सिद्ध हुई।

(v) विदेशी आक्रमण—1739 ई. में नादिरशाह तथा 1761 ई. में अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों ने मुगल साम्राज्य के पतन में निर्णायक भूमिका निभाई। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद राजपूत मराठा संघर्ष तीव्र हो गया। मराठों से तंग होकर राजस्थान के नरेशों ने अंग्रेजों से सन्धि करना ही श्रेयस्कर समझा।

मराठों के प्रति राजपूत नीति

डा. गुप्ता व डा. ओझा का मत है कि—"मराठों के मालवा गुजरात पर आक्रमण की चिन्ता न केवल मुगल सम्राट को ही हुई अपितु राजस्थानी शासकों के लिए भी यह गहन चिन्ता का विषय बन गया जिसके दो कारण थे—

(1) मुगल शक्ति के पतन का लाभ उठाने की आशा में उन्होंने मराठा शक्ति को बाधक समझा।

(2) शक्तिशाली मराठों का इन प्रदेशों में प्रवेश भी इनके लिए खतरे की सूचना थी क्योंकि इसके पश्चात् इन प्रान्तों की सीमा पर लगे हुए राजस्थानी राज्य मुख्यतः मेवाड़, बूंदी और कोटा की बारी थी। यह स्वाभाविक ही था कि दिल्ली तक जाने की इच्छा रखने वाले मराठा बीच में पड़ने वाले भाग राजस्थान को भी अपने प्रभाव में लाना चाहते थे। शक्तिहीन एवं पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य ने मराठों व राजस्थान को आमने सामने ला खड़ा किया।"[1]

सवाई जयसिंह की मुगल सूबेदार होने की दृष्टि से मराठों के प्रति नीति ने मराठों के आक्रमणों के प्रति राजपूत नीति को सर्वाधिक प्रभावित किया। डा. वी. एस. भटनागर के अनुसार—"जयसिंह ने यथासम्भव यह प्रयत्न किया कि मराठों के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए विस्तार को रोका जाए अथवा उसकी गति धीमी

1 डॉ. के. एस. गुप्ता व डा. जे. के. ओझा : राजस्थान का इतिहास–एक सर्वेक्षण p. 202–203

की जाए जिससे कि राजनीतिक व्यवस्था एकाएक ही नष्ट न हो जाए। यथासम्भव वह मालवा के दक्षिणी भागों में मराठों को मान्यता देकर के द्राय मालवा में अपना प्रभुत्व रखना अधिक उपयोगी मानता था।[1] इस नीति में सवाई जयसिंह का व्यक्तिगत स्वार्थ भी छिपा था। वह आमेर राज्य का विस्तार सांभर से नर्मदा नदी के उत्तर तक विस्तार करना चाहता था।

राजपूतों की मराठों के प्रति इस नीति का असफल होने के कारणों में मुगल सम्राट का सहयोग न देना, जयसिंह का व्यक्तिगत स्वार्थ तथा राजपूत नरेशों के परस्पर झगड़ों के कारण उनके मध्य एकता न होना था।

मराठा आक्रमणों को रोकने का प्रयास

मराठों ने सर्वप्रथम 1711 ई. में नर्मदा नदी को पार कर मंदसौर के निकट मेवाड़ क्षेत्रों में प्रवेश कर धन वसूल किया। महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय चिंतित हुए। डा. जी. के. ओझा के शब्दों में— उसके (महाराणा) द्वारा सवाई जयसिंह को भेजे गए पत्रों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि तब मराठों के विरुद्ध मेवाड़ में योजनाएं बनाई जा रही थीं।[2] मराठा प्रसार की आशंका से अन्य राजस्थानी शासक भी चिंतित होकर किसी उपाय की खोज में थे। डा. गुप्ता व ओझा का कथन है कि— उधर मुगल सम्राट भी मराठों को रोकने के लिए चिंतित था। उसके लिए यह आवश्यक हो गया कि कोई ऐसा शक्तिशाली सूबेदार मालवा में नियुक्त किया जाए जो मराठों को खदेड़ सके। आमेर का शासक सवाई जयसिंह इस दृष्टि से सबसे योग्य था। अतः अक्टूबर 1713 ई. में उसे मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया तथा मारवाड़ के अजीतसिंह को गुजरात का सूबेदार बनाया गया।[3] जयसिंह ने मेवाड़ व अन्य राजस्थानी शासकों की सहायता से अनेक स्थानों पर मराठों को पराजित किया किन्तु कोई परिणाम न निकला अतः 1715 ई. में जयसिंह को मालवा से बुलाकर जाटों के विद्रोह दमन हेतु भेजा गया। मालवा में घुसपैठ कर नए पेशवा बाजीराव ने चौथ वसूल की तथा रामपुरा, बूंदी व कोटा पर भी आक्रमण किया। 1726 ई. में मराठों ने पुनः कोटा व बूंदी पर आक्रमण किया व मेवाड़ में भी घुसपैठ की। 1728 ई. में मराठों ने मेवाड़ के शाहपुरा राज्य से खर्चे की माग की किन्तु युद्ध होने पर मराठे भाग गए। डूंगरपुर व बांसवाड़ा से मराठों ने 'खिराज' वसूल किया।

इस स्थिति में मुगल सम्राट व राजपूत शासकों में चिन्ता व परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। 1730 ई. में सवाई जयसिंह को दूसरी बार मराठों के विरुद्ध सामना करने के लिए मालवा का सूबेदार बनाया गया। जयसिंह ने मराठों से मित्रता करने हेतु सम्राट को शाहू के पुत्र कुशालसिंह को जागीर देने का प्रस्ताव

1. डॉ. वी. एस. भटनागर, सवाई जयसिंह, पृ. 130-31
2. डॉ. जी. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास, पृ. 7
3. पूर्वोद्धृत, p. 203

भेजा किन्तु सम्राट ने विरोधी तूरानी गुट के प्रभाव में इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और जयसिंह के स्थान पर मुहम्मद बगश को मालवा का सूबेदार बना दिया गया।

गुजरात में सूबेदार सर बुलदखाँ को 23 मार्च 1730 ई में मराठा सरदार चिमाजी से समझौता करना पड़ा। अतः गुजरात की सूबेदारी मारवाड़ के महाराजा अभयसिंह को दी गई किन्तु अभयसिंह को भी कोई सफलता न मिली व उसे मराठों से समझौता करना पड़ा। 1733 ई में अभयसिंह वापस जोधपुर लौट गया। मालवा में बगश के स्थान पर पुनः तीसरी बार सवाई जयसिंह को 6 दिसम्बर 1732 ई को सूबेदार नियुक्त किया गया। मुगल सम्राट ने मराठों के विरुद्ध तैयारी करने हेतु जयसिंह को 13 लाख रुपये दिए। जयसिंह ने जयपुर मेवाड़ के संयुक्त प्रयासों से मालवा की सुरक्षा हेतु एक नवीन योजना बनाई। डा के एस गुप्ता के अनुसार जयसिंह व उदयपुर के महाराणा में निम्नांकित समझौता हुआ[1]—

(1) मालवा में मेवाड़ की ओर से 24–25 हजार सवार व 9 हजार पैदल तथा जयपुर के 15 हजार सवार व 15 हजार पैदल होंगे।

(2) राजस्व व पेशकश से जो आमदनी होगी उसका एक भाग मेवाड़ को तथा 2 भाग जयपुर को मिलेगा।

(3) उदयपुर का धाय भाई नगराज अपनी फौज के साथ 1732 33 ई के वर्ष में सवाई जयसिंह के पास 7 महीने तक रहेगा और इसके बाद प्रतिवर्ष 6 6 महीने दोनों की फौजें सूबे में रहेंगी।

(4) दोनों राज्य के बख्शी नायब व मुत्सद्दी मिलकर काम करेंगे और यदि मराठों से समझौता हो गया तो जो भूमि व राजस्व बादशाह उन्हें सूबे में से देंगे उसका भार दोनों राज्य बराबर बराबर बाँट लेंगे।

इस प्रकार जयसिंह व महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय ने संयुक्त रूप से मालवा में मराठों का प्रतिरोध करने का संयुक्त प्रयास किया किन्तु नीति समझौतावादी ही अपनाई। मराठे दक्षिणी मालवा पर आधिपत्य कर चुके थे। जयसिंह ने फरवरी 1733 ई में मराठों से युद्ध किया जिसमें मराठों की विजय हुई और विवश होकर जयसिंह को 6 लाख रुपये नकद तथा चौथ के बदले मालवा के 28 परगने मराठों को देना स्वीकार करना पड़ा। इस पराजय से जयसिंह की प्रतिष्ठा को धक्का लगा तथा यह स्पष्ट हो गया कि मराठों के आक्रमण का प्रतिरोध करने हेतु जयपुर व मेवाड़ की सेना अपर्याप्त थी।

बूँदी समस्या—इसी समय राजस्थान में सवाई जयसिंह की प्रभुत्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा ने बूँदी के उत्तराधिकार के झगड़े में मराठों को हस्तक्षेप करने का अवसर दिया। जयसिंह ने अपने बहनोई बूँदी के शासक बुधसिंह हाडा

1 *Dr K S Gupta* Mewar & the Maratha Relations p 35-36

को बूंदी की गद्दी से हटाकर करवर के हाड़ा सालिमसिंह के छोटे पुत्र दलेल सिंह को 19 मई 1730 ई. को वहां का शासक बना दिया। डा. रघुवीरसिंह के शब्दों में—'बूंदी का यह नया शासक अब सवाई जयसिंह का एक सामंत बन गया, और बूंदी का प्राचीन स्वतंत्र राज्य अब आम्बेर के राज्य का ही एक अंग मात्र समझा जाने लगा। परन्तु जयसिंह की इस सफलता ने राजस्थान में एक नई उलझन पैदा कर दी जिसके फलस्वरूप कुछ ही वर्षों बाद मरहठों ने वहां की राजनीति में भी प्रथम बार प्रवेश किया। बुद्धसिंह ने उदयपुर व बाद में बेगूं में शरण ली। दलेलसिंह के बड़े भाई ने ईर्ष्यावश बुद्धसिंह की सहायतार्थ दक्षिण जाकर 6 लाख रुपये देकर मल्हारराव होल्कर व राणोजी सिंधिया को बूंदी पर आक्रमण हेतु तैयार कर लिया। 22 अप्रैल 1734 ई. में मराठा सेना ने बूंदी पर अधिकार कर बुद्धसिंह को पुनः गद्दी पर बैठा दिया। बुद्धसिंह की रानी ने होल्कर को राखी बांधकर अपना भाई बनाया। यद्यपि जयसिंह ने बूंदी से मराठों के जाते ही पुनः दलेलसिंह को बूंदी की गद्दी पर बैठा दिया था तथापि इस घटना ने मराठों को राजस्थान के राजघरानों के मामलों में हस्तक्षेप कर आक्रमण करने को प्रोत्साहित कर दिया।

हुरड़ा सम्मेलन (17 जुलाई, 1734)

(Hurda Conference 17th July 1734)

डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—"महाराजा जयसिंह ने जब मालवा में अपनी शक्ति को निर्बल पाया और देखा कि वहां मराठे अधिक बल पकड़ रहे हैं तो उसने राजपूताना आदि के राजाओं को एकत्र कर उनकी सम्मिलित शक्ति से मराठों का मुकाबला करने की योजना बनाई। जयपुर राज्य को परिवर्धित करने के लिए उसकी अभिलाषा मालवा और रामपुरा को उससे मिलाने की थी। महाराणा संग्रामसिंह भी गुजरात का मारवाड़ से मिलाकर जोधपुर की सीमा बढ़ाना चाहता था। महाराणा जगतसिंह (द्वितीय) भी अपने पड़ौस में मराठों का शक्तिशाली देखना नहीं चाहता था। राजपूताने के अन्य शासक भी अपनी शक्ति को बढ़ाने के उद्योग में थे। मराठों की शक्ति को कम करने में सभी शासक उत्सुक थे क्योंकि बिना इसके न तो उनके राज्य की सीमाएं बढ़ सकती थी और न वे सुरक्षित ही अनुभव करते थे।"[1] राजस्थान के नरेशों की मराठों का प्रतिरोध करने हेतु संगठन करने की इच्छा इस कथन से स्पष्ट होती है किन्तु उनके व्यक्तिगत लाभ हेतु अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति करने की प्रबल अभिलाषा भी प्रकट होती है।

सभी प्रमुख राजपूत नरेशों को एक स्थान पर एकत्रित कर सर्वसम्मति से मराठों के आक्रमणों के सामूहिक प्रतिरोध के संकल्प का उदाहरण दिनांक 17 जुलाई 1734 ई. को गुलाबपुरा व विजय नगर के मध्य मेवाड़ में स्थित हुरड़ा नामक कस्बे में आयोजित एक सम्मेलन था। डा. मथुरालाल शर्मा का मत

1 डा. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 392 93

है कि— यह सम्मेलन सवाई जयसिंह ने बुलाया था।[1] डा कृष्ण स्वरूप गुप्ता के अनुसार— इस सम्मलन के संयोजक मेवाड के महाराणा जगतसिंह द्वितीय थे।'[2] किन्तु डा वी एस भार्गव का मत है कि— यह सम्मेलन महाराणा जगतसिंह व सवाई जयसिंह के संयुक्त प्रयत्नों के परिणामस्वरूप बुलाया गया था।[3] इससे प्रकट होता है कि हुरडा सम्मेलन राजस्थान के नरेशों के दो प्रतिनिधि बड़े राज्यों-जयपुर व मेवाड द्वारा आयोजित था जिसे सभी नरेशों की सम्मति एवं समर्थन प्राप्त था। इस सम्मेलन के प्रेरक महाराणा संग्रामसिंह का देहान्त इस सम्मेलन के आयोजन के पूर्व 1734 में हो गया था।

इस सम्मेलन में जयपुर के सवाई जयसिंह मेवाड के महाराणा जगतसिंह द्वितीय मारवाड के महाराजा अभयसिंह बीकानेर नरेश जोरावरसिंह बूंदी के निर्वासित शासक दलेलसिंह कोटा के महाराव दुर्जनशाल नागौर के राजा बख्तसिंह आदि सम्मिलित हुए। सम्मेलन की अध्यक्षता महाराणा जगतसिंह ने की। इस सम्मेलन में जो समझौता अंकित किया और जिस पर उपस्थित शासकों ने 17 जुलाई 1734 को हस्ताक्षर किए उसकी शर्तें निम्नांकित थी[4]—

(i) राजस्थान के सभी शासक धर्म की शपथ लेकर एक दूसरे की विपत्तियों में मित्रतापूर्ण सहयोग देंगे तथा एक का अपमान दूसरे का अपमान समझा जाएगा।

(ii) किसी एक शासक के शत्रु को दूसरा शासक किसी भी प्रकार का सहयोग और आश्रय नहीं देगा।

(iii) मराठों के विरुद्ध वर्षा ऋतु के पश्चात् कार्य प्रारम्भ किया जाएगा तब सभी शासक रामपुरा में एकत्र होंगे। यदि कोई शासक किसी कारणवश उपस्थित नहीं हो सकेगा तो अपने राजकुमार को भिजवा देगा।

(iv) यदि राजकुमार अनुभवहीनतावश कोई गलती करे तो महाराणा द्वारा ही उसे ठीक किया जाएगा।

(v) यदि कोई नई कार्यवाही शुरू की जाए तो सभी शासक एकत्रित हो उसमें सहयोग देंगे।

इस प्रकार हुरडा सम्मेलन खानुआ युद्ध के पश्चात् राजस्थान में प्रथम बार एक संगठन के निर्माण का संकल्प था किन्तु इस समझौते का निर्धारित समय पर रामपुरा में एकत्रित होने की शर्त का किसी भी नरेश ने पालन नहीं किया। समझौता एक कागजी कार्यवाही बन कर रह गया। इस सम्मेलन की असफलता के अग्रांकित कारण इतिहासकारों ने बतलाए हैं—

1 *Dr Mathura Lal Sharma* History of the Jaipur State
2 *Dr K S Gupta* Mewar Maratha Relations
3 डा वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 263
4 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण p 211

(i) डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों मे— उपयुक्त संधि का जो परिणाम होना चाहिए था वह नही हुआ क्योंकि राजस्थान के शासकों के स्वार्थ भिन्न भिन्न थे। कोई भी राजपूत राजा किसी अन्य राजपूत राजा को अपना सर्वोपरि मानने के लिए तैयार नही था।'[1]

(ii) बी एम दिवाकर का मत है कि— 'प्रतिभा सम्पन्न और क्रियाशील नेतृत्व का अभाव हुरडा सम्मेलन की असफलता का एक अन्य प्रमुख कारण था। महाराणा जगतसिंह मे संगठित राजस्थान का नेतृत्व करने की क्षमता नही थी।'[2]

(iii) 'जयपुर की सामाजिक प्रतिष्ठा कुछ कम थी साथ ही अन्य राजपूत शासक भी जयसिंह को संदेह की दृष्टि से देखते थे। अतः जब उसे (सवाई जयसिंह को) नेतृत्व का सम्मान नही मिला तो उसने निर्णय क्रियान्वित करने मे उदासीनता की भावना रखी।[3]

(iv) हुरडा सम्मेलन मे हुए समझौते मे अस्पष्टता यह थी कि कौन कितनी सेना लेकर रामपुरा मे एकत्रित होगा।

(v) डा वी एस भार्गव के अनुसार सवाई जयसिंह व दुर्जनशाल हाडा ने खान ए दौरा को अकेला छोड दिया जिससे चौथ की एवज मे मराठो को मालवा के उपजाऊ प्रदेश दे दिए जिससे मराठो को मालवा होकर राजस्थान मे घुसपैठ करने का मार्ग मिल गया।

हुरडा सम्मेलन के बाद मराठा आक्रमणों के प्रति 1761 तक राजपूत नीति

3 फरवरी 1736 को पेशवा बाजीराव प्रथम ने उदयपुर आकर महाराणा जगतसिंह को अपमानजनक संधि करने पर विवश किया और 12 लाख 25 हजार रुपये वार्षिक किश्तों मे देना तय किया गया। इसके बाद जब पेशवा अजमेर मे जयपुर की ओर बढने लगा तो सवाई जयसिंह ने 8 मार्च 1736 को किशनगढ के पास बम्बोली स्थान पर उससे भेंट कर उसे मुगल सम्राट से मराठो के लिए अधिक रियायतें दिलाने का आश्वासन दे विदा किया। डा मथुरालाल शर्मा का मत है कि— सवाई जयसिंह मुगल सम्राट के व्यवहार से असंतुष्ट था, अतएव उसने स्वयं बाजीराव को भेंट करने हेतु बुलाया था। इस प्रकार मराठों के आतंक को अपने लाभ के लिए सवाई जयसिंह ने प्रयोग मे लिया।[4]

1739 मे जब नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ तो पेशवा की प्रार्थना पर महाराणा जगतसिंह को अपनी सेना मराठो के अधीन मुगल सम्राट की रक्षार्थ भेजनी पडी। 1740 मे पेशवा बाजीराव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव पेशवा बना तो वह आगरे की ओर ससैन्य बढा। आगरे का

1 पूर्वोद्धृत p 393
2-3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, p 212
4 *Dr Mathura Lal Sharma* History of the Jaipur State

इस समय सूबेदार सवाई जयसिंह था जिसने पेशवा से 12 मई 1741 ई को धौलपुर में भेंट की तथा कूटनीति से काम लिया और उसने पेशवा को आश्वासन दिया कि वह मालवा का सूबेदार बन कर पेशवा को नायब सूबेदार बना उसे चौथ वसूल करने की छूट देगा। डा वी एस भार्गव के अनुसार — उसने मराठों के प्रति रियायत व सुविधाओं की नीति जान बूझकर अपनाई लेकिन इस नीति ने राजस्थान के शेष राजपूत राज्यों को मराठों के लिए दुधारू गाय बना दिया।[1]

जयपुर के उत्तराधिकार से सबद्ध सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरीसिंह व उदयपुर की रानी से उत्पन्न पुत्र माधोसिंह के मध्य युद्ध हुआ। 1747 में ईश्वरीसिंह ने माधोसिंह व उसके समर्थक महाराणा और बूंदी व कोटा के नरेशों को युद्ध में पराजित किया। पेशवा ने दोनों भाइयों में समझौता कराना चाहा किन्तु ईश्वरीसिंह द्वारा शर्तें न मानने पर पेशवा ने ईश्वरीसिंह को बगरु नामक स्थान पर हराकर माधोसिंह को पाँच परगने (टोंक टोडा मालपुरा निवाई व रामपुरा) दिला दिए व बूंदी का राज्य उम्मेदसिंह को दिला दिया। महाराणा जगतसिंह ने मल्हारराव होल्कर को 59 लाख रुपये देने का वायदा कर माधोसिंह को जयपुर का राजा बनाने हेतु मराठा आक्रमण करा दिया जिसमें पराजित होकर ईश्वरीसिंह ने आत्महत्या कर ली। माधोसिंह जयपुर की गद्दी पर बैठा। 1751 में जब महाराणा जगतसिंह की मृत्यु हुई तब मेवाड मराठों का कर्जदार बन मराठों के हस्तक्षेप का लक्ष्य बन गया।

7 दिसम्बर 1741 को पेशवा को मालवा का उप सूबेदार बना दिया किन्तु मराठों ने मेवाड के परगने रामपुरा पर अधिकार कर लिया जिसे अहमदशाह अब्दाली द्वारा मराठों के पराजित होने पर ही मेवाड पुन हस्तगत कर सका। 5 जून 1751 को राणा जगतसिंह की मृत्यु के बाद हुए उत्तराधिकार के झगडे में मराठों ने हस्तक्षेप कर मेवाड से धन व कई जिले हथिया लिये। 14 जनवरी 1761 में अहमदशाह अब्दाली द्वारा पानीपत के तीसरे युद्ध में मराठों की हार पर टिप्पणी करते हुए डा गुप्ता व डा ओझा का मत है कि— मराठों के निरंतर हस्तक्षेप के कारण उनके खिलाफ सम्पूर्ण राजस्थान में घृणा का वातावरण व्याप्त हो गया था। इसलिए अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध मराठों को राजस्थान से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई। राजपूत शासक अब्दाली मराठा संघर्ष में तटस्थता की नीति अपनाते रहे। सदाशिवराव भाऊ जिसके नेतृत्व में मराठा सेनाएं अब्दाली के विरुद्ध भेजी गई थी ने भी राजपूत सहायता प्राप्त करने का बहुत प्रयास किया। इसी उद्देश्य से उसने यहाँ के शासकों के पास अपने प्रतिनिधि भेजे किन्तु जैसा कि राजपुरा अभिलेखागार में रखे पत्रों से स्पष्ट है कि मराठों के प्रति राजपूतों की कोई सहानुभूति नहीं थी। अत वे उदासीनता की नीति अपनाकर युद्ध के परिणाम की प्रतीक्षा करते रहे। इतना ही नहीं जयपुर के महाराजा सवाई माधोसिंह ने तो मराठा विरोधी मोर्चा स्थापित करने का प्रयास भी किया। अब्दाली मराठा संघर्ष

1 डॉ वी एस भार्गव राजस्थान का इतिहास p 266

14 जनवरी 1761 ई को पानीपत क मैदान म हुआ जिसम मराठो की करारी हार हुई और जन धन की अपार क्षति के साथ साथ उनकी प्रतिष्ठा को भी गहरा आघात पहुचा। राजस्थान म मराठा-पराजय की प्रतिक्रिया प्रसन्नता के रूप म हुई।"[1]

1761 मे मराठो के अहमदशाह अब्दाली स पराजित होने के बाद राजस्थान के शासको का मनोबल बढ गया और उन्होने मराठो को निकाल बाहर करने व उनका देय धन को रोकने क प्रयास किए किन्तु व निष्फल रहे। डा रघुवीरसिंह के शब्दो म— राजपूत शासको की आपसी ईर्ष्या मे राजस्थान का भार मराठो का सौप दिया। इसलिए 1761 ई म मराठो ने कोटा, मवाड व जयपुर स कर वसूल करना शुरु किया। 1762-64 ई तक मराठा अधिकाशत दक्षिण म ही व्यस्त थे। अत उनका राजस्थान म कोई विशेष हस्तक्षेप नही रहा। राजस्थानी शासको न भी मराठो की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर उन्हें वार्षिक कर देना बन्द कर दिया किन्तु जसे ही मराठा दक्षिण से मुक्त हुए तब स पुन राजस्थान म मराठा मांगें सनिक प्रदशन कराके पूरी की जान लगी।'[2] यह स्थिति राजस्थानी नरेशो द्वारा अग्रजो स सधि करने तक चलती रही।

मराठो के आक्रमण के प्रति सवाई जयसिंह की नीति ने राजपूत नीति को प्रभावित किए रखा किन्तु डा वी एस भागव का यह कथन उपयुक्त है कि— सवाई जयसिंह अपनी स्वाथ सिद्धि क लिए मराठो के प्रति सद्भावना और मत्री का दृष्टिकोण रखता था। उसने मराठा के आतक का सहारा बनाकर मुगल साम्राज्य का आतकित रखा। इस तरह अपनी प्रतिष्ठा को जीवन पय त बनाए रखा। जयसिंह की यह नीति व्यक्तिगत दृष्टिकोण स ठीक हो सकती है परन्तु इस नीति न समस्त राजस्थान का मराठा आतक के लिए खुला छोड दिया। मराठ राजस्थान म खुल आम घुमपठ करन लगे। हुरडा का असफल सम्मेलन एक दिखावा मात्र था जिसने मराठा आतक को समाप्त करने क बजाय बढा दिया।"[3]

---

1 डा गुप्ता व डा शर्मा राजस्थान का इतिहास-एक सर्वेक्षण p 225
2 डा रघुवीरसिंह पूर्व आधुनिक राजस्थान
3 डा वी एस भागव राजस्थान का इतिहास पृ 267

9 प्रशासनिक व्यवस्था—राजपूत-वंश आधारित सामन्ती व्यवस्था—वतन जागीरों का सम्प्रत्यय

(Administrative Structure—Nature of Rajput Clan based Feudal Order—Concept of Watan Jagirs)

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल (1200 से 1761 ई.) के अन्तर्गत पूर्व मध्यकालीन प्रशासनिक व्यवस्था में मुस्लिम शासन के अनुकरण एवं प्रभाव के फलस्वरूप उल्लेखनीय परिवर्तन हुए। अध्ययन काल में राजस्थान में प्रचलित प्रशासनिक व्यवस्था विभिन्न राज्यों में कुछ भिन्नताएं होते हुए भी उनमें कुछ *समानताएं थीं, जो तत्कालीन प्रशासन का आधार बनीं। इन भिन्नताओं के साथ* समानताओं के आधार पर इस प्रशासनिक व्यवस्था के स्वरूप की व्याख्या की जानी आवश्यक है। इसके साथ ही राजपूत वंश आधारित सामन्ती व्यवस्था व वतन तथा जागीर के सम्प्रत्यय को समझना भी तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था को स्पष्ट करने में सहायक हो सकेगा क्योंकि सामन्ती व्यवस्था ही इस प्रशासनिक व्यवस्था का आधार थी।

अध्ययन काल की प्रशासनिक व्यवस्था
(Administrative Structure of the Period of Study)

प्रशासनिक व्यवस्था को तत्कालीन सन्दर्भ एवं परिप्रेक्ष्य में निम्नांकित शीर्षकों *के अन्तर्गत समझा जा सकता है—*

राजा एवं राजत्व का आदर्श
(King and the Ideal of Kingship)

डा. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— मध्ययुगीन राजस्थान के नरेश, छोटी से छोटी इकाई के राजा होते हुए भी अपने आपको प्रभुता सम्पन्न शासक मानते थे। इसी भावना से प्रेरित होकर वे अपने लिए महाराजाधिराज, राजराजेश्वर, नरेन्द्र

आदि विरुद धारण करते थे। उनके आश्रित कवि या लेखक इन्हें इसी प्रकार के विरुदों से सम्बोधित करते थे। कम से कम इनके सामन्त इन्हें पूर्ण प्रभुता सम्पन्न ही मानते थे। इनमें अपने वंश गौरव का बड़ा भान था। कोई राजवंश यदि अपने आपको राम का वंशज मानते थे तो कोई अपने को कृष्ण का। सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी सूची में अपनी गणना करना एक प्रकार से श्रेष्ठता का दावा करना था। इस प्रकार की प्रधानता के साथ-साथ सशक्त शासक दिग्विजय की महत्त्वाकांक्षा रखना अपने जीवन का एक लक्ष्य मानते थे। जब मुगलों की शक्ति बढ़ गई तो दिग्विजय की स्मृति में टीका दौड़ की परम्परा बनी। वर्षा ऋतु की समाप्ति पर बहुधा शासक अपने राज्य की सीमा के बाहर शिकार के लिए निकल पड़ते थे और अपनी प्रभुता के आदान का सम्मान करते थे। म्लेच्छों से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करना या उनसे पराजित होने की स्थिति में भी राजस्थानी नरेश विदेशी अनुयायों से युद्ध करना अपना धर्म समझते थे। "तीर्थ स्थानों को म्लेच्छों से मुक्ति दिलाना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे।'[1] इस कथन की सत्यता मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास में प्रमाणित होती है। ख्यातों, प्रशस्तियों व अन्य कवियों की रचनाओं में राजाओं की उपरोक्त उपाधियों व विरुदों के अतिरिक्त 'श्रीजी', 'हुजूर', देव, 'अन्नदाता' आदि नामों से सम्बोधित होना राजाओं की प्रभुता सम्पन्नता के सूचक हैं। हम्मीर, महाराणा राजसिंह, सवाई जयसिंह आदि शासकों द्वारा दिग्विजय की सूचक टीका दौड़ व उनके द्वारा सम्पन्न अश्वमेध आदि यज्ञ प्राचीन चक्रवर्ती नरेश होने के परिचायक थे। मुस्लिम आक्रमणकारियों के विरुद्ध केसरिया बाना पहन कर वीरगति प्राप्त होने तक युद्ध करने व राजपूत रमणियों द्वारा सतीत्व की रक्षार्थ 'जौहर' करने के उदाहरण चित्तौड़ के तीन शाके हैं। राणा राजसिंह द्वारा औरंगजेब से अनेक मंदिरों व मूर्तियों की रक्षा करना क्षात्र धर्म के अनुपम उदाहरण थे।

राजा शक्ति व शौर्य का प्रतीक बन ईश्वर के प्रतिनिधि होने में अपना गौरव समझते थे। डा० शिवचरण मेनारिया के शब्दों में— महाराणाओं को अपने वंश, अपनी जाति, अपने धर्म और अपनी धरती के प्राचीन गौरव पर अभिमान था। अपने को ईश्वर का सर्वोच्च प्रतिनिधि सिद्ध करने के लिए उसने एकलिंगजी (शिव) को राज्य का सर्वोपरि शासक और स्वयं को उसका दीवान घोषित किया। महाराणा द्वारा प्रसारित आदेशों पर 'दीवान जी आदेशात्' (दीवान जी यानी महाराणा के आदेशानुसार) शब्द अंकित किया जाता था।[2]

राज्य के स्वरूप की अग्रांकित तीन विशेषताओं का उल्लेख बी० एम० दिवाकर ने किया है[3]—

1 डॉ० गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का इतिहास, पृ० 622–23
2 डॉ० शिवचरण मेनारिया : उत्तर मुगलकालीन मेवाड़, p 166
3 बी० एम० दिवाकर : राजस्थान का इतिहास, पृ० 310–11

(i) "राजस्थान म राजा को इश्वर तुल्य माना जाता रहा है। व अपने आपको प्रभुता सम्पन्न राजा समझते थ। स्पष्ट है कि राजपूत राज्य का आधार दविक सिद्धान्तो पर आधारित था।

(ii) राजा अपने नाम के बडी बडी उपाधियो स सुशोभित करते थ। इन उपाधियो स स्पष्ट है कि राजा को पृथ्वी पर ईश्वर सम्पन्न माना जाता था।"

(iii) 'तीसरी विशेषता राज्य की यह थी कि प्रजा सामान्यत राजा की समालोचना नहीं कर सकती थी और न ही राजाओ के कार्यो को बुरा बता सकती थी। प्रजा राजा को ईश्वरी दूत मानती थी और उसका काय ईश्वर का आदेश माना जाता था।

राजाओ का पद, अधिकार एव कर्त्तव्य

राजा का पद पतृक होता था किन्तु राजा को अपने जीवनकाल म अपना उत्तराधिकारी की घोषणा करने का अधिकार था। कभी कभी वे ज्येष्ठ पुत्र क स्थान पर कनिष्ठ पुत्र को भी उत्तराधिकारी नियुक्त कर देते थे जस राणा उदयसिंह ने प्रताप के स्थान पर छोटे पुत्र जगमाल को तथा मारवाड नरेश गजसिंह न अमरसिंह के स्थान पर जसवतसिंह को उत्तराधिकारी घोषित किया किन्तु एसी स्थिति म राज्य हित की दृष्टि म सामन्त हस्तक्षेप भी करते थे जस मेवाड म जगमाल को हटाकर प्रताप को महाराणा पद पर पदासीन किया था। प्राय ज्येष्ठ पुत्र को ही उत्तराधिकारी मानने की प्रथा प्रचलित थी।

राजस्थान के शासक अपने राज्य के सर्वेसर्वा थ। राज्य का शासन न्याय वितरण उच्च पदो पर नियुक्ति दण्ड सेना सचालन सधि आदेश आदि के सूत्र का सपूर्ण आधार इनके व्यक्तित्व म निहित था। धम की रक्षा करने और प्रजा क पालन का उत्तरदायित्व उनके कन्धो पर था।[1] सर्वाधिकार सम्पन्न होन के कारण ही उनकी रानियो का भी उचित सम्मान होता था तथा व विशेष परिस्थितियो म शासन काय करती थी व युद्ध के समय क्षत्राणी धर्म का पालन करती थी। वी एम दिवाकर का कथन है कि— राजा अनेक विवाह करते थे और इन रानियो का भी राज्य काय म बडा योगदान रहता था। सामान्यत युवराज की आयु कम होने पर रानियाँ राज्य काय अपने हाथ म ले लती थी। इस क्षेत्र म भट्टियानी रानी और हसाबाई का नाम उल्लेखनीय है। कठिनाई के समय य रानियाँ रण कौशल भी दिखाती थी। रानी पद्मिनी ने अपने साहस का परिचय देकर राणा रत्नसिंह को अलाउद्दीन की कद स मुक्त कर दिलाया था और जब राजपूत वीर युद्ध म पराजित होकर लडते लडते मारे जाते तो य रानियाँ बिना किसी भय के हसते हसते जलती अग्नि म कूद कर अपने स्नेह और शौय क परिचय देती सती हो जाती थी। स्पष्ट है कि रानियाँ भी राजा की भाँति वीर और त्यागी होती थी।[2]

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 623

2 पूर्वोद्धृत पृ 313

राजाओं के कर्त्तव्यों में प्रजा पालन, धर्म की रक्षा तथा राज्य की चहुँमुखी उन्नति करना था। राज्य में अकाल, महामारी, युद्ध आदि के समय राजा प्रजा की हर सम्भव सहायता करते थे व प्रजा हितकारी कार्यों से प्रजा पालक होने का कर्त्तव्य निभाते थे। धर्म रक्षक होने का प्रमाण औरंगजेब जैसे धर्मान्ध सम्राटों के समय हिंदुओं पर 'जजिया' कर लगाने व मंदिरों व मूर्तियों को नष्ट करने का तीव्र विरोध राणा राजसिंह जैसे नरेशों ने किया व उनकी रक्षा की। स्वधर्म का निष्ठा से पालन करते हुए भी राजस्थानी नरेश धर्म सहिष्णुता का परिचय देते थे। वे अन्य धर्मावलम्बियों को उच्च पद देते थे तथा उन्हें अनुदान दिया करते थे। उदाहरणार्थ मेवाड़ के दीवान जैन होते थे, पृथ्वीराज, मालदेव, राजसिंह, रायसिंह आदि नरेशों ने जैन मंदिरों का निर्माण कराया, अजमेर की दरगाह को अनेक गाँव जागीर में राजपूत नरेशों ने दिए, महाराणा प्रताप की सेना में हकीम सूर अफगान सेनानायक था, दुर्गादास ने शाहजादा अकबर एवं उसके पुत्र व पुत्रियों को अपनी शरण में रखकर उन्हें ससम्मान औरंगजेब को सौंप दिया था। ये राजपूत नरेशों की धर्म सहिष्णुता के ज्वलन्त प्रमाण हैं। राज्य की चहुँमुखी उन्नति करने सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य के पालन में राजपूत नरेशों ने साहित्य व कला की प्रगति करने व विद्वानों व कवियों को आश्रय देने सम्बन्धी कार्यों से योगदान दिया।

राजस्थान के नरेशों के उपरोक्त अधिकारों व कर्त्तव्यों से यह स्पष्ट है कि वे स्वच्छन्द व स्वेच्छाचारी शासक न थे। अनेक साक्ष्यों के आधार पर अध्ययन-कालीन राजस्थान के शासकों के अधिकारों की सीमाओं का उल्लेख करते हुए डा. गोपीनाथ शर्मा का मत है कि—'जब उनके शासन में कोई खराबी दीख पड़ती तो सामन्तगण, राज्य के मध्यम श्रेणी के वर्ग तथा पंचायतें उनके अधिकार के क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकते थे और उन्हें उचित व्यवस्था के लिए बाध्य कर सकते थे।'[1]

मंत्रिपरिषद्

पूर्व मध्यकालीन राजस्थान के राज्यों में प्राचीन मौर्य कालीन हिन्दू शासन प्रणाली का ही रूप प्रचलित था, किन्तु मुगलों के प्रभाव से मध्यकालीन राजस्थान की शासन प्रणाली में अनेक परिवर्तन हुए। वी. एस. दिवाकर का यह कथन उपयुक्त है कि—'भारत के मुसलमानों के प्रभाव और अकबर के समय से मुगलों के साथ राजपूतों के मेलजोल के कारण जयपुर, कोटा, बीकानेर आदि के शासक तो मुगल दरबार में ही रहने लग गए थे और मुगल शासन व्यवस्था के निकट सम्पर्क में आए थे, अतः मध्यकालीन राजस्थान पर मुगल शासन व्यवस्था का सीधा और गहरा प्रभाव है। कई राजपूत शासक तो सूबेदार बनकर वर्षों तक अपने राज्यों से दूर दक्षिण या पश्चिम सीमा पर रहते थे। ऐसी दशा में उनके राज्य का पूर्ण संचालन ही मन्त्री या मंत्रिमण्डल द्वारा होता था। समय और आवश्यकता के

1 पूर्वोद्धृत पृ 626

अनुसार मुगल प्रभाव म ग्राकर राजपूत राजाग्रा न मंत्रिमण्डल के महत्त्व को कम कर दिया और मन्त्रियो के स्थान पर केन्द्रीय अफसरो या विभागाध्यक्षो के पद धीरे धीरे मन्त्रिमण्डल स भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गय।'[1] अत अध्ययन काल मे कतिपय भिन्नताओ के साथ प्राय सभी राज्यो म निम्नांकित केन्द्रीय अधिकारी थे—

(1) प्रधान—राजा के बाद प्रधान राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता था। डॉ शिवचरण मेनारिया के अनुसार— वह नागरिक वित्तीय, यायिक और सनिक सभी अधिकारो स सम्पन्न होता था। विस्तृत अधिकारो के साथ साथ उसकी जिम्मेदारियाँ भी अधिक थी। एक सफल प्रधान के लिए आवश्यक था कि वह शासन के विभिन्न तन्त्रा सभासदो एव सामन्ता का पूर्णत विश्वस्त बना रहे।[2] मवाड मे राणा रायमल के समय प्रधान पचोली हिम्मत साँगा के समय गिरधर पचोली उदयसिंह के समय शाह ग्राशा प्रताप के समय भामाशाह आदि थे। जोधपुर म प्रधान पद बडे सामन्ता मे से (ग्राडवा आसोपा, पोखरन आदि के सामन्ता मे स) किसी एक को दिया जाता था। डा शर्मा के अनुसार— भूमि के अनुदाना पर प्रधान के हस्ताक्षर होना आवश्यक था। उत्सव या सवारी के अवसर पर प्रधान शासक के ठीक पीछे बठता था। एक अच्छे प्रधान के लिए एक अच्छा शासक और चतुर दरबारी होना आवश्यक था।'[3]

(2) दीवान—डा शर्मा का कथन है कि— कही प्रधान की अवस्था म और कही प्रधान के न रहत हुए राज्य का सर्वोच्च अधिकारी दीवान हाता था जो मुख्य रूप स अथ विभाग का अध्यक्ष होता था। जहाँ प्रधान नही होते थ दीवान प्रधान का काय भी करत थ। इस पदाधिकारी के कार्यों म मुख्य रूप स आर्थिक काय काप और कर सग्रह के काय थ। इनक नीचे कइ कारखाने जात के दरोगा रोकडिया मुशी, पोतदार आदि होत थ। प्रत्येक विभाग के सभी कार्यो के विवरण इसके पास आते थ। इनसे सम्बधी सभी पत्रो को वह आदेशाथ शासक के सम्मुख रखता था और उसके आदेशानुसार उनके उत्तर भेजता था। राज्य की नियुक्तियाँ पदोन्नति स्थानान्तर आदि सम्बधी निणय उसकी सम्मति के बिना नही लिए जाते थे। उसकी स्वतन्त्र मुहर होती थी जिस पर उसका नाम खुदा जाता था।[4]

(3) बख्शी—डा शिवचरण मेनारिया के अनुसार—'प्रधान के बाद दूसरा मुख्य अधिकारी बख्शी होता था। वह राज्य की सशस्त्र सनाओ के वतन भुगतान का लेखा जोखा रखता था और उस स्वीकृति देता था। वह हाजिरी भी रखता था। युद्ध के समय घायलो की देखभाल रखने की जिम्मेदारी बख्शी की होती थी।[5] डा शर्मा ने बख्शी के कुछ अन्य काय बतलात हुए कहा है कि—

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, पृ 316
2 पूर्वोक्त, p 167
3-4 पूर्वोक्त p 626-29
5 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मवाड, पृ 168

"राजा का विश्वासपात्र होने से सभी गुप्त मन्त्रणा मे वह सम्मिलित होकर शासन कार्य मे प्रभूत सहायता पहुचाता था। सम्भवत सैनिक अध्यक्ष होने से उसे पशु चिकित्सा मे भी विशेषज्ञ होना पडता था। उसके निकट सहायक अधिकारी नायब-बख्शी कहलाते थे। खबर नवीस और किलेदार भी इसके अधीन होते थे। इसे कहीं फौज बख्शी भी कहते थे।'[1]

(4) मुत्सद्दी—मुत्सद्दी युद्ध के समय सेना की व्यवस्था देखने वाला अधिकारी था जो सेना के सभी अगो का नेतृत्व करता था। इस पद पर राजपूत सामन्त वर्ग से ही किसी की नियुक्ति की जाती थी।

(5) खानसामा—खानसामा दीवान के अधीन होता था किन्तु राज परिवार के निकट सम्पर्क के कारण वह सर्वाधिक प्रभावशाली होता था। उसके कार्य निर्माण कार्य, वस्तुओ का क्रय, राजकीय विभागो के सामान की खरीद और संग्रह राज्य के सभी कारखानो का परिवीक्षण आदि थे। उत्सव राजा के जन्म दिन राज्याभिषेक आदि के अवसरो पर प्राप्त उपहारो का संग्रह व राजमहल की वस्तुओ का क्रय करना भी उसके जिम्मे था। मेवाड मे इस पद को कोठारी के नाम से जाना जाता था।

(6) कोतवाल— राजधानी की सार्वजनिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व कोतवाल पर होता था। नगर मे शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना इसका मुख्य कर्त्तव्य था। चोर डाकुओ को दण्ड देना, वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करना तोल माप के पैमानो की जांच करना और पुलिस व्यवस्था (चौकीदारी) की देखभाल करना इसके कार्य थे। कस्बे की पचायत का यह प्रधान होता था। पुलिस विभाग द्वारा चोरी और अपराधो को रोकने के लिए रात को बराबर गश्त होती रहती थी।"

(7) खजाची— मेवाड मे इसे कोषपति' कहते थे। यह एक ईमानदार और प्रतिष्ठित व्यक्ति होता था जो राज्य की आमदनी और खर्च का पूरा पूरा हिसाब रखता था। यह व्यक्ति पक्षपात रहित और पूर्व धारणाओ से मुक्त होता था। राजा को समय समय पर बढते हुए खर्च और घटती आमदनी से अवगत कराते रहना इसका काम था। एक अच्छे खजाची से यह आशा की जाती थी कि वह प्रतिदिन की आमदनी और खर्चे मे से थोडा बहुत धन बचाकर धीरे धीरे सचय करता रहेगा। और इस प्रकार बचाया हुआ धन आपत्ति, अकाल और लगान वसूल न हो सकने की सूरत मे राज्य के खर्चे के लिए उपलब्ध करेगा।"[3] ऐसे बचाए हुए धन को 'निधि' और 'दुर्ग' कहते थे जो केवल राज्य के आपत्ति काल मे ही प्रयुक्त होता था।

1 पूर्वोद्धृत, p 629
2 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड p 168
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास, पृ 318

(8) किलेदार—राज्य मे दुर्गों (किला) की रक्षा का भार किलदार नामक अधिकारी का होता है। किलेदार योग्य व विश्वासपात्र व्यक्ति ही होता था क्योकि किले के गुप्त गृहो मे खजाना छिपा कर रखा जाता था।

परगना-शासन

मेवाड मे परगना शासन के सम्बन्ध मे डा शिवचरण मेनारिया का कथन है कि— राज्य का शासन दो भागो मे विभक्त था—(1) खालसा तथा (2) जागीर प्रशासन। राज्य का जो भाग सीधे महाराणा के अधीन था वह खालसा तथा जो भाग जागीरदारो के अधीन था वह जागीर प्रशासन कहलाता था। जागीर प्रशासन की देखभाल सामन्तगण अपने अपने क्षेत्र मे राज्य के प्रचलित नियमो एव परम्पराओं के अनुसार करते थे। खालसा प्रशासन की देखभाल महाराणा स्वय अपने अधीनस्थ कर्मचारियो द्वारा करता था। सम्पूर्ण राज्य कई परगनो मे विभक्त था। परगनो का प्रशासन फौजदार कामदार (हाकिम) आदि चलाते थे।[1] प्राय यही व्यवस्था राजस्थान के सभी रजवाडो मे थी। मारवाड मे शेरशाह के प्रभाव के फलस्वरूप राज्य का विभाजन शिको मे किया गया किन्तु अकबर ने शिको को परगना के रूप मे परिवर्तित कर दिया। परगना मे निम्नांकित प्रमुख अधिकारी होते थे—

(i) फौजदार—यह सेना का अधिकारी होता था जो परगने की सुरक्षा एव स्थानीय सत्ता की तयारी करता था। वह अमीन अमलगुजार आदि राजस्व अधिकारियो का सहयोग देता था। इसका मुख्य काय चोर लुटेरो तथा डाकुओ का पता लगाकर उन्हें दण्ड देना था जो आधुनिक पुलिस के काय है।

(ii) हाकिम (कामदार)—हाकिम या कामदार परगने मे सर्वोच्च नागरिक अधिकारी होता था जिसे प्रशासनिक एव न्यायिक दोनो अधिकार प्राप्त थे। इसकी नियुक्ति स्वय राजा करता था। सनिक व पुलिस कार्यो मे वह फौजदार का सहयोग लेता था। हाकिम की सहायताथ अनेक परगना अधिकारी होते थे जसे कोतवाल अमीन कानूनगो दाणी, दरोगा ए सायर पटवारी शाहना आदि। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो मे— कही कही बडे परगने मे एक ओहददार भी होता था जो हाकिम को शासन मे सहायता पहुँचाता था। इन अधिकारियो के सहयोगी शिकदार कानूनगो खजाची शहने आदि होते थे जो वतनिक तथा फसली अनाज के एवज मे राजकीय सेवा करते थे। परगनों के अधिकारी समय समय पर अपने अधिकार क्षेत्र का दौरा भी कर लिया करते थे जिससे नीचे के सेवको के काम का निरीक्षण भी हो जाया करता था और ग्रामवासियो की असुविधाए या फरियादें दूर की जा सकती थी या सुनी जा सकती थी।[2]

1 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड पृ 170
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास, p 631

राज्य का परगनों पर नियन्त्रण परगना अधिकारियों का समय-समय पर स्थानान्तरण कर तथा राजा द्वारा स्वयं परगना के दौरे द्वारा रखा जाता था। गुप्तचर भी परगना की गोपनीय सूचना राजा को देते रहते थे। जनता पर अत्याचार की शिकायत होने पर दोषी अधिकारी को दण्डित किया जाता था।

ग्राम प्रशासन

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। पूर्व मध्यकाल में ग्राम का अधिकारी 'ग्रामिक' किन्तु परवर्ती काल में वह 'पटवारी' नाम से जाना जाता था। पटवारी अपने पट्टे के अधिकार के कारण ग्राम का सर्वोच्च अधिकारी था। पट्टा उस अधिकार-पत्र को कहते हैं जिसके द्वारा पटवारी लगान के आकलन व वसूली का अधिकार प्राप्त करता था। पटवारी की सहायतार्थ और भी अधिकारी या कर्मचारी थे जैसे तफेदार सेहना कनवारी तलवाटी और चौकीदार। तफेदार लगान का लेखा जोखा रखने वाला सहना या शहनाह प्रबन्धक का कार्य कनवारी खेत का रक्षक तलवाटी उपज को तोलने का कार्य व चौकीदार ग्राम की रखवाली करता था।

ग्राम के स्थानीय प्रशासन हेतु ग्राम पंचायत होती थी जिसमें ग्राम के मुखिया व सयाने लोग होते थे। ये लोग मिलकर न्याय झगड़े निपटाना धार्मिक और सामाजिक विषयों पर विचार करना आदि कार्य सम्पादन करते थे। जाति पंचायतें भी ऐसे मामलों में या जाति सम्बन्धी समस्याओं को निपटाने में अपना सहयोग देती थी।[1]

भूमि-प्रबन्ध

राज्यों में भूमि प्रबन्ध में कुछ भिन्नता होते हुए भी प्रायः भूमि छः भागों में विभक्त थी—

"(1) खालसा भूमि वह भू भाग था जो राजा की निजी सम्पत्ति गिनी जाती थी और लगान वसूली के लिए केन्द्रीय दीवान के निजी प्रबन्ध के अधीन थी। (2) हवाला भूमि का वह भाग था जिसकी देखभाल के लिए हवलदार रखे जाते थे। यह भूमि साधारणतः परगनों के अधीन होती थी। (3) जागीर भूमि का वह भाग जिसे राजा सामन्तों को उनकी सेवाओं के बदले जागीर में देता था। जागीरदार स्वयं इस भूमि के किसानों से लगान वसूल करता था किन्तु जागीर में निर्धारित रकम प्रतिवर्ष राज्य के खजाने में जमा करा देता था। (4) भूमि का चौथा भाग भौम था। राज्य की कई तरह से सेवा करने वाले भोमियों को भी जमीन दी जाती थी। इन भोमियों से कोई कर नहीं लिया जाता था और इनसे जमीन भी नहीं छीनी जाती थी। (5) भूमि का पाँचवां भाग शासन का था। यह भाग राज्य के अधीन था और इसकी व्यवस्था, पटवारी, पंचायत आदि के

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 631

माध्यम से होती थी। (6) इन पाँचो भागो के अतिरिक्त दान म दी हुई भूमि थी जो राजा कवियो ब्राह्मणो चारणो, मठो और मन्दिरो का देता था। इस भूमि मे भी कोई कर नही लिया जाता था। केवल खालसा हवाला, जागीर और शासक की भूमि स आमदनी थी।[1]

उपज का ⅙ भाग राजकीय भाग या लगान के रूप म वसूल किया जाना था। लगान वसूली के प्रकारो का विवरण देत हुए डा मनारिया का कथन है कि—राजकीय आय का प्रमुख स्रोत लगान (भूमिकर) था। लगान तय करने के लिए दो तरीके काम में लाए जाते थे—

(1) बटाई—अनाज के भाग तय करना (उत्पादित माल का)

(2) कणकूती—खडी फसल स उत्पादन का अनुमान लगाकर तय करना।

नकद लिया जाने वाला लगान हांसल और अनाज क रूप म लिया जाने वाला लगान 'भोग कहलाता था। भोग लटाई के उपरान्त लिया जाता था। *लटाई के समय गाँव का मुखिया खेत का मालिक और राजकीय अधिकारी* उपस्थित होत थे। विभिन्न गाँवो मे लगान के साथ तरह तरह की लागतें भी वसूल की जाती थी। जागीरदार लोग अपनी अपनी जागीरों म तरह तरह की लागतें वसूल करत थ।[2]

कर प्रणाली

सनिक व सावजनिक व्यय की पूर्ति हतु राज्य द्वारा निम्नांकित प्रकार के कर लगाए जात थ जिनम आवश्यकतानुसार परिवतन होत रहते थ—

(i) भूमि कर—अर्थात् लगान जिसके साथ कई लागें' भी वसूल की जाती थी जसे हल कर घास आदि।

(ii) बिक्री कर—बाजार म विक्रय के लिए वस्तुओ पर यह कर स्थानीय व विदेशी व्यापारियो स विभिन्न रूप मे लिया जाता था। हाटो पर हाट कर लिया जाता था।

(iii) दाण—यह कर वस्तुओ के आयात निर्यात पर लगाया जाता था जिसे 'राहगीरी भी कहा जाता था।

(iv) उत्पादन कर—इस कर का उगाही म भिन्नता होती थी। चुगी, दुकान लागत, खाल लाख चूडी, कलाली, कुम्हारी घाणी आदि व्यवसाइयो व दस्तकारो से पटटा के रूप म उत्पादन कर लगता था।

इसके अतिरिक्त नजराना, युद्ध कर जागीर से आय दण्ड का धन, खनिज कर आदि भी वसूले जात थे।

1 वी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास p 3̊0-21
2 डॉ शिवचरण मेनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड, p 176-77

न्याय व दण्ड व्यवस्था

डा मनारिया के शब्दों में—"न्याय व्यवस्था सरल किन्तु प्रभावशाली थी। राणा स्वयं न्याय का स्रोत था, परन्तु स्वेच्छाचारिता से काम नहीं लेता था। गाँवों में ग्राम पंचायतें न्याय करती थीं। परगने के हाकिम अपने क्षेत्र की न्याय व्यवस्था की देखभाल करते थे। राज्य की न्याय व्यवस्था का मुख्य आधार हिन्दुओं के धर्म शास्त्र होते थे। शिरच्छेद अंगच्छेद देश निर्वासन कैद जुर्माना आदि आम सजाएं थीं। कानून व व्यवस्था काफी सहज थी। लोग देश के कानूनों का सम्मान करते थे।'[1]

सैन्य-व्यवस्था

सैन्य व्यवस्था में मुगलों के सम्पर्क में काफी परिवर्तन हो गए थे। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— जब राजस्थानी नरेश मुगलों की सेवा में रहने लगे तो यहाँ सैनिक व्यवस्था में एक परिवर्तन आया। मुगलों की भांति वे ऐसे अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करने लगे जो वार में शीघ्रगामी होते थे और उपयोग करने में हल्के और अधिक पैने होते थे। बारूद तोपें, बंदूकें छोटी तलवारें और हल्की ढालों तथा बर्छियों का प्रयोग राजस्थान में होने लगा। पदाधिकारी सैनिक मुगलों की भांति लम्बे कोट पाजामा लोहे के टोप और अंगरक्षक साधनों को काम में लाने लगे। पैदलों की अपेक्षा घुड़सवारों का प्रयोग मुगलों की भांति अधिक हो गया। सम्पूर्ण सेना का नेतृत्व वैसे तो राजा स्वयं करते थे, परन्तु अलग अलग सैनिक विभागों की व्यवस्था की देखरेख के लिए जुदे जुदे अधिकारी होते थे जिनको पदल पति, गजपति अश्वपति आदि कहते थे। मुगलों के प्रभाव से कई राज्यों में सैनिकों और सैनिक पदाधिकारियों को दारोगा ए फीलखाना दारोगा ए तोपखाना शमशेरबाज बन्दूकची किलेदार आदि कहने लगे। घोड़ों को दागने की प्रथा भी चल गई थी।[2] इस प्रकार सैनिकों की वेश भूषा आग्नेयास्त्रों का प्रयोग घुड़सवार सैनिकों की प्रमुखता जिरह बख्तर (कवच) आदि परिवर्तन मुगल प्रभाव के सूचक थे।

आक्रमण से सुरक्षा हेतु दुर्गों का विशेष महत्त्व रहा जिसमें युद्ध काल के समय पर्याप्त रसद रखकर घेरे का प्रतिरोध किया जाता था किन्तु रसद समाप्त होने पर पुरुष केसरिया बाना धारण कर दुर्ग के फाटक खोल मर मिटते थे तथा स्त्रियाँ जौहर कर अपने सतीत्व की रक्षा करती थी। इसके अतिरिक्त पर्वतीय इलाके के राज्यों में प्रतिरक्षा हेतु छापामार युद्ध नीति अपनाई जाती थी। मुगलों से संघर्ष में मेवाड़ में यही नीति सफल सिद्ध हुई थी।

राजपूत वंश आधारित सामन्ती व्यवस्था की प्रकृति
(Nature of Rajput Clan based Feudal Order)

राजपूत राजाओं को उनके दैवी अधिकार एवं प्रजा की दृष्टि में उन्हें ईश्वर

1 पूर्वोद्धृत, p 180
2 पूर्वोद्धृत p 637-38

का अवतार या प्रतिनिधि मानने का आधार इन राजाओं के विभिन्न राजपूत-वंश—जैसे गहलोत, कछवाहा, राठौड़, चौहान, भाटी आदि थे जो भगवान राम या कृष्ण से अपना पैतृक सम्बन्ध जोड़ते थे अथवा चन्द्रवंशी, सूर्य वंशी या अग्निवंशी होने का गौरव प्राप्त थे। जिस प्रकार राजस्थान के विभिन्न राज्य किसी न किसी ऐसी दैवी उत्पत्ति के राजवंश के शासक के अधीन थे जो अपनी सुरक्षा एवं सहायता हेतु अपने राज्य में अपने ही वंश के सामन्तों को जागीर देकर उनका सम्मान करते थे। जिस प्रकार राजस्थान का प्रत्येक शासक अपने राजवंश का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि माना जाता था उसी भाँति उसके निकट सम्बन्धी सामन्त भी प्रतिष्ठित व सम्माननीय माने जाते थे। राजा ने उन्हें विशेष अधिकार दिए थे। ये सामन्त प्रशासन व युद्ध में अपना योगदान कर राजा की सेवा करते थे। इस प्रकार राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था की प्रकृति राजपूत वंश आधारित थी।

जगदीशसिंह गहलोत ने सामन्ती व्यवस्था अथवा जागीर-व्यवस्था या प्रणाली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि जागीर प्रथा का उस समय प्रादुर्भाव हुआ जब राजा को जन, सैनिक व प्रजा के रूप में अधिकाधिक सहायता की आवश्यकता हुई। राजा ने अपने सम्बन्धियों को आजीविका हेतु भूमि (जागीर) दी जो आवश्यकता के समय सशस्त्र सैनिकों के साथ उसकी सहायता कर सकें। जागीरदार अपने गाँवों व भूमि की देखभाल करते थे और प्रशासन में भाग लेते थे। इस प्रकार गाँव के निवासी द्विशासन (राजा एवं जागीरदार के शासन) के अधीन दुखी थे। राजा की पराजय या विजय पर उनका भविष्य निर्भर रहता था। मध्यकाल में मुगल राज्य के अन्तर्गत जागीरदारी प्रथा की आशातीत वृद्धि हुई। राजाओं को सम्राट की सहायता हेतु ये जागीरदार ही अस्त्र शस्त्र एवं सैनिक उपलब्ध कराते थे। इसके अतिरिक्त ये जागीरदार राजा की आय एवं राजस्व के प्रमुख स्रोत थे। वे राजा को धन के रूप में हुकुमनामा, रेख, नजराना, मातमी, मतालबा आदि नामों से भेंट या नजराना देते थे। किन्तु जागीरदारी प्रथा के कुछ दोष भी थे। जागीर के उत्तराधिकारी के अभाव में अथवा जघन्य अपराध या राजद्रोह करने के दण्डस्वरूप राजा उनकी जागीर या भूमि को खालसा कर लेता था। दुर्बल राजाओं के समय व बाह्य (जैसे मराठा) आक्रमणों के समय वे स्वतन्त्र शासक के रूप में व्यवहार कर राजा के विरुद्ध भी हो जाते थे। ये राजा से भी अधिक अपने अधीन प्रजा पर अत्याचार करते थे।[1]

कर्नल टाड ने सामन्ती व्यवस्था के राजपूत वंश आधारित होने के सन्दर्भ में कहा है कि स्थानीय शासन व्यवस्था का आधार यहाँ की जागीरदारी प्रथा थी। राज्य की प्रतिष्ठित सामन्त व्यवस्था मुगलों के विभिन्न आक्रमणों के उपरान्त भी सजीव और शक्तिशाली बनी रही। यहाँ के प्रचलित सामाजिक नियमों के अनुसार विशुद्ध रूप से राजपूत कुलोत्पन्न व्यक्ति ही सामन्त होने का अधिकारी था। वंश की

1 *J S Gahlot* Rajasthan Before Second World War p 19–20

श्रद्धा को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था।"[1] डा. शिवचरण मनारिया के अनुसार प्रशासनिक पदों पर राजपूतों के अतिरिक्त अन्य जाति के लोगों को भी नियुक्त कर लिया जाता था और उन्हें उच्च चलाने हेतु जागीर दी जाती थी। जागीर प्राप्त कर्ता जब तक राजकीय सेवा में रहता, जागीर का उपभोग करता था। [2]

श्यामलदास ने कहा है कि 'महाराणा अमरसिंह प्रथम ने अपने राज्य के सामन्तों की जागीर मुगल पद्धति के अनुसार प्रति तीसरे वर्ष बदल देने का नियम प्रचलित किया था। सामन्तों के जागीर में व्यवस्थित नहीं हो पाने से वहाँ पर अशांति का वातावरण बना रहता था। अतः महाराणा अमरसिंह द्वितीय ने उक्त नियम को रद्द कर यह निश्चित कर दिया कि जब तक सामन्त पूर्ण निष्ठा और जिम्मेदारी के साथ कर्त्तव्य पालन करता रहे और राजकीय आज्ञाओं का विधिवत् पालन करता रहे उसकी जागीर नहीं बदली जाए। [3] इस व्यवस्था को अमरशाही रेख भी कहा जाता है। राणा अमरसिंह द्वितीय ने सामन्तों की तीन श्रेणियाँ भी निर्धारित की—(1) सोलह उमराव (प्रथम श्रेणी के सामन्त) (2) बत्तीस द्वितीय श्रेणी के सामन्त, तथा (3) तृतीय श्रेणी के सामन्त। जागीरदारों को श्रेणियों में विभक्त करने की प्रथा अन्य राजपूत राज्यों में भी प्रचलित थी।

राजा और सामन्तों के मध्य सम्बन्ध मधुर व सम्मानजनक थे। मेवाड़ के सामन्तों के सन्दर्भ में डा. मेनारिया का यह कथन उल्लेखनीय है कि महाराणा के दरबार में सामन्तों का बड़ा सम्मान था। सामन्तगण महाराणा के प्रमुख सलाहकार के रूप में कार्य करते थे। सेना के सेनापति पद पर अधिकांशतः इनकी ही नियुक्ति की जाती थी। सामन्त अपनी जागीर की व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से करते थे किन्तु वे वहाँ पर राज्य में प्रचलित शासन प्रणाली का ही अनुसरण करते थे। सभी सामन्तों की आय समान नहीं होने के कारण उनकी सैनिक शक्ति भी समान नहीं होती थी।

सामन्तों को वर्ष में कम से कम तीन माह तक राजधानी में रहकर अपनी सेवाएं देनी होती थी।

किसी सामन्त की मृत्यु हो जाने पर उसकी जागीर खालसा कर ली जाती थी तदुपरान्त महाराणा उस सामन्त के उत्तराधिकारी को राजधानी में आयोजित एक समारोह (तलवार बंधाई) में उक्त जागीर का स्वामी घोषित करता तथा उसकी कमर में स्वर्गीय सामन्त की तलवार बांधता था। किसी भी पुत्रहीन सामन्त को गोद लेने का अधिकार था। नाबालिग सामन्त-पुत्रों का संरक्षण अधिकांशतः उनकी माताएं करती थी।'[4] प्रायः यही व्यवस्था अन्य राजपूत राज्यों में कुछ भिन्नता के साथ प्रचलित थी।

वतन जागीर का सम्प्रत्यय

अध्ययन काल में राजस्थानी राज्यों में प्रचलित उपरोक्त वंशाधारित जागीर

1 टॉड कृत राजस्थान, p 85
2 डॉ. शिवचरण मनारिया उत्तर मुगलकालीन मेवाड़ p 172
3 वीरविनोद (श्यामलदास कृत) p 789-90
4 पूर्वोद्धृत p 174-175

भू राजस्व तन्त्रों की प्रकृति
(Nature of Land Revenue Systems)

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार राज्य और कृषि करने वालों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने में 'कर' एक माध्यम था। साधारणत उपज का 1/3 से 1/4 भाग लगान के रूप में लिया जाता था।"[1] डा जी एस देवड़ा के शब्दों में "भू राजस्व जिसे हासिल कहा जाता था भाग (कृषि कर) तथा रोकड़ (अन्य कर) से मिलकर बनता था।'[2] फसल के स्वरूप उपज तथा काश्तकार की जाति को ध्यान मे रखकर हासिल का निर्धारण किया जाता था। राज्य में भू राजस्व निर्धारण की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थी। कूता प्रणाली के अन्तर्गत खड़ी फसल को आँका जाता था। कूतन (आँकने) में पिछले वर्ष की उपज के आँकड़े से भी सहायता ली जाती थी। कूतन में किसान की बात को भी सुना जाता था तथा उसको विश्वास नही करने पर वह राज्य के दीवान व राजा को अपनी शिकायत पहुँचा सकता था। *कॉकड बूट पद्धति में खड़ी फसल के आधार पर पैदावार का अनुमान लगाकर* लगान निर्धारित किया जाता था। मुकाना पद्धति एक तरह की अनुबन्ध व्यवस्था थी। इसमें चौधरी व साहणा द्वारा खेत का मूल्यांकन करके निर्धारित की गई रकम किसान को चुकानी पड़ती थी। डोरी पद्धति के अनुसार लगान प्रति बीघा के हिसाब से तय होता था। इसके अतिरिक्त हलगत और बीघड़ी पद्धतियाँ भी प्रचलित थी।

लगान निर्धारित करते समय भूमि की उर्वरा शक्ति कृषक की जाति फसलों के प्रकार आदि का ध्यान रखा जाता था। बंजर भूमि पर नाम मात्र का कर लगाया जाता था। कृषि पर निर्भर जातियों की अपेक्षा ब्राह्मणों एवं राजपूतों से कम कर लिया जाता था।

किसान को भूमि कर के अतिरिक्त भी अन्य कर देने पड़ते थे। ये कर हासिल की वसूल करते समय काश्तकारों एवं रय्यत द्वारा हवलदार व चौधरी को चुकाने पड़ते थे। धुआँ भाछ गाँव के प्रत्येक घर पर जलने वाले चूल्हों की संख्या पर लगाया जाता था। यह एक प्रकार का गृह कर था।[3] इसके अतिरिक्त अन्य कर थे— खडमीसर (मारवाड़ में पानी पीने पर) जमी चौथ (जमीन पर बिक्री कर) हवूब (राज्य के बर्तन खर्चे की पूर्ति हेतु कर) जुर्माना 'पान चराई (पशुओं की चराई पर) आदि। इन करों का दबाव व आतंक बहुत अधिक था। *डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार—' इनमें कुछ कर नियमित थे और कुछ अनियमित* थे। मुगलों के सम्पर्क के कारण राहदारी बाब पेशकश जकात गनीम, बराड़ आदि कर राजस्थान में प्रचलित थे।[4]

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 491–92
2 डा जी एस एल देवड़ा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था p 217
3 डा जी एस एल देवड़ा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था p 168
4 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 168

कर वसूली में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उतना ही कर वसूल किया जाए जिसके बाद किसान के पास इतना बच सके कि वह अपनी न्यूनतम अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह बताना कठिन है कि करों का कुल कितना भार जनता पर था। एक अनुमान के अनुसार केवल भू राजस्व कर कुल उत्पादन का 45% वसूल किया जाता था। अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्य करों सहित अपनी कुल आय का 55 से 60% तक जनता करों के रूप में चुकाती थी। कर न देने पर गाँव जब्त कर लिए जाते थे। ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि करों की अधिकता के कारण कुछ क्षेत्र में गाँव सूने हो गए थे। टॉड ने बीकानेर राज्य के सन्दर्भ में लिखा है कि— करों की सख्ती से राज्य की जनसंख्या कम हो गई थी।[1]

ग्राम प्रशासन की सबसे छोटी इकाई था। राज्य द्वारा नियुक्त हवलदार नामक कर्मचारी 'भूमि-कर' तथा रोकड़ रकमों की वसूली करते थे। चौधरी कर वसूल करने में राजकीय कर्मचारियों की सहायता करता था। पटवारी का कार्य गाँव की भूमि का मापन और भूमि-कर वसूली के रिकार्ड को तैयार करना था।[2]

ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का सम्बन्ध पंचायत व्यवस्था से गहरा था। तीन प्रकार की पंचायतें होती थीं। ग्राम पंचायत, जाति पंचायत और व्यावसायिक पंचायत। ग्राम पंचायतों के समक्ष जो विवाद आते थे उनमें अधिकांशतः आर्थिक होते थे। भूमि स्वामित्व, भूमि के रहन तथा खेत की सीमा सम्बन्धी विवादों का समाधान ग्राम पंचायतें करती थीं। व्यावसायिक पंचायतों का सम्बन्ध गाँवों की अपेक्षा शहरों और कस्बों से अधिक था।

प्रत्येक तीसरे या चौथे वर्ष पड़ने वाले अकाल से मध्ययुगीन अर्थ व्यवस्था त्रस्त थी। राज्य का कोई न कोई भाग प्रत्येक वर्ष अकाल से ग्रस्त रहता था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार— यातायात की गति में शिथिलता होने से सहस्रों जन और पशु ऐसे अवसरों पर मौत के शिकार होते थे।[3] अकाल का सर्वाधिक प्रभाव कृषकों पर पड़ता था। खाद्यान्न, चारे एवं पेयजल की गम्भीर समस्या उत्पन्न हो जाती थी। अकाल की सम्भावना मात्र पर लोग पशुओं को लेकर अन्य राज्यों में चले जाते थे। 1747 ई. में सारे राजस्थान में अकाल पड़ा था। जे. एस. गहलोत के अनुसार राजस्थान में अध्ययन काल के अन्तर्गत 1661, 1746 व 1755 में भीषण अकाल पड़े थे। अकाल के समय लोग मालवा, सिन्ध या आगरा की ओर अभिनिष्क्रमित हो जाते थे तथा वर्षा होने के उपरान्त

1 टाड राजस्थान, भाग-2, p 11, 82 & 83
2 डा. जी एस एल देवड़ा राजस्थान की प्रशासनिक
3 पूर्वोक्त p 492

ही अपने घरो को लौटते थे।[1] अकाल ग्रस्त राजस्थान के क्षेत्र के विषय म यह पद्य प्रचलित है—

"पग पूगल सिर मेरता, उदरज बीकानर
भूलो चूको जोधपुर थावो जेसलमेर।'

अर्थात् अकाल स्वय कहता है कि—'मेरे पर पूगल (बीकानेर) म मेरता मे सिर व बीकानर म पेट रहते हैं। कभी कभी म जोधपुर आता हू किन्तु मेरा स्थायी निवास जसलमर म है।'

व्यापार एव वाणिज्य
(Trade and Commerce)

व्यापार व वाणिज्य हतु बाजारो की स्थापना

व्यापार एव वाणिज्य का प्रचलन राजस्थान के कई भागो म था। स्थानीय व्यापार गलियो व मुहल्लो मे होता था जहाँ उत्पादक ही व्यापारी होता था तथा उसका घर ही दुकान के रूप म प्रयुक्त होता था। विशेष वस्तुओ के क्रय विक्रय के लिए विशिष्ट बाजार होते थे जहाँ एक ही प्रकार की वस्तुएँ व्यापारी बचत व खरीदत थे। दुकानो और बाजार की रक्षा का भार शासन पर था। विशेष अवसरो पर हाट लगत थे। इस सम्बन्ध म डा गोपीनाथ शमा का कथन है कि— साप्ताहिक अर्द्ध साप्ताहिक या विशेष अवसरो पर हाट लगता था, जहाँ सभी प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध होती थी। पुष्कर परबतसर राजनगर और नागौर म विशेष रूप से पशुओ का मेला लगता था जहाँ दूर दूर स लोग आते थे और पशुओ का खरीदत तथा बचत थे।'[2]

शासकों द्वारा बाजार स्थापित करने का उल्लेख अनेक शिलालेखो म मिलता है। उदाहरणार्थ कक्कुक के घटियाला अभिलेख स ज्ञात होता है कि कक्कुक न अपनी राजधानी रोहिसकूप (वतमान घटियाला) म आभीरो के विद्रोह का शान्त करके एक व्यवस्थित हाटक (बाजार) का निर्माण कराया था। इसी प्रकार सामन्तसिंह (चौहान) के जालोर अभिलेख स भी नरपति नामक व्यक्ति द्वारा हाट के निमाण का उल्लेख हुआ है। मुहनोत नणसी न परगनो की विगत म जोधपुर की व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। विभिन्न भागो म स्थित विभिन्न प्रकार की दुकानो का हवाला नणसी ने दिया है।[3] इस विवरण स स्पष्ट है कि मध्य कालीन राजस्थान मे बाजारो की उत्तम व्यवस्था थी।

व्यापारियो की सुविधा का ध्यान

कम तोलने या मिलावट करने के अपराध पर कठोर दण्ड दिया जाता था। शासक लोग व्यापारियो की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखत थे। डा गोपीनाथ शमा

1 *J S Gahlot* Rajasthan Before Second World War p 123
2 पर्वोद्धत p 493
3 डा मोतीलाल मथक जोधपुर राज्य का इतिहास p 241

के अनुसार—"मध्यकालीन राजस्थान में आम तौर पर व्यापारिक नैतिकता सन्तोषजनक थी।"[1] कर्नल टॉड ने लिखा है—"आश्चर्य की बात लगती है कि लूटमार व आपसी गृह कलह में जब सम्पूर्ण भारत अव्यवस्था का केन्द्र बना हुआ था, उन दिनों में भी आज की शांतिपूर्ण व्यवस्था की अपेक्षा दस गुना व्यापार प्रचलित था।"

राजस्थान के शासक व्यापार वाणिज्य को विकसित देखना चाहते थे। इसलिए वे व्यापारियों की सुरक्षा की उचित व्यवस्था करते थे। उन्हें कई करों से मुक्त रखा जाता था। कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं के लिए माल अधिक मात्रा में तथा विशेष स्थान से खरीदा जाता था। डॉ. गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में— ऐसे स्थानों में ऊन के लिए जैसलमेर और बीकानेर, रूई के लिए कोटा, अफीम के लिए प्रतापगढ़, जंगली काष्ठादिक के लिए दक्षिण-पश्चिम राजस्थान प्रसिद्ध थे।[2]

अन्तर्राज्यीय व्यापार आयात-निर्यात

व्यापार दो प्रकार का होता था—अन्तराज्यीय और अन्य राज्यों से। अन्तर्राज्यीय व्यापार करने वाले बंजारे एवं सौदागर कहलाते थे। इन सौदागरों से जो कर प्राप्त होता था उसे 'दाण (चुंगी)' कहा जाता था। दाण प्राप्ति के लालच में इन व्यापारिक काफिलों का प्रत्येक शासक स्वागत करता था।[3] बात परगने फलोदी से ज्ञात होता है कि मोटा राजा उदयसिंह ने राठौड़ वरसी तेजावत को एक काफिले के स्वागतार्थ भेजा था।[4]

अन्तराज्यीय मण्डियों में जैसलमेर, फलोदी, अजमेर, आमेर, पाली, मेड़ता, बाड़मेर आदि मुख्य थी। यहाँ कुछ कर देने से माल बाहर से लाया या यहाँ से ले जाया जा सकता था।[5] मुगल सत्ता की स्थापना तक नागौर एवं अजमेर का महत्व बढ़ गया था। अन्तर्राज्यीय व्यापारिक वस्तुओं में कपड़ा, नमक, तम्बाखू, अनाज आदि मुख्य थी जिनका राजस्थान के एक भाग से दूसरे भाग में लेन देन होता रहता था।[6] व्यापार की स्थिति एवं व्यापारिक वस्तुओं तथा आयात निर्यात के सम्बन्ध में डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है—"राजस्थान की केन्द्रीय स्थिति भारत के अन्य भागों से व्यापारिक सम्बन्ध जोड़ने में बड़ी सहायक सिद्ध हुई। मध्य युग में उत्तरी और दक्षिणी भारत से वस्तुओं का आदान प्रदान होता था। गुजरात, सिंध, मालवा और बुरहानपुर से आने वाले और ले जाने वाले माल के लिए अजमेर, नागौर, मेड़ता, चित्तौड़, बयाना, उमरकोट, मोरवाना तथा पाटन मण्डियाँ थी। मुगल दरबार में और सूबों में भी राजस्थान के माल की माँग थी और कई राज्यों में मुगल सूबों से माल आता था। यहाँ से चमड़े का सामान, लकड़ी का

1-2 पूर्वोद्धृत p 497 व 493
3 डॉ. मोतीलाल भार्गव—मयंक—जोधपुर राज्य का इतिहास, पृ 100
4 बात परगने फलोदी री
5 नैणसी री ख्यात पृ 47, 98 & 134

सामान वतन घोडे ऊन आदि मुगल दरबार म उपहार के रूप मे भेज जाते थे या खरीदे जाते थ। छुहारा नारियल, सोना हाथी घोडे बढ़िया शराब, मलमल, सूती मवा परदे बुरहानपुरी कपडा सारंगपुरी पगडियाँ, बनारसी साडियाँ बूटेदार गुजराती रेशम कश्मीरी ऊनी सामान औरंगाबादी कपडे आदि की माँग थी। राजस्थान के नरेश बाहर से आने वाले व्यापारियों को कर म छूट देत थ और उनकी सुरक्षा का प्रबन्ध करते थ। इन सुविधाओं के कारण कई व्यक्ति समृद्ध व्यापारी बन गये जिनम उत्तम चन्द शाह सुजान गुलाब भारती बाबा दयालगिरी गरी लाल, देवदत्त आदि प्रसिद्ध हैं। कई स्थानीय व्यापारियों ने दक्षिणी और उत्तरी भारतवर्ष के सूबा म अपनी दुकानें खोल दी जिसस व्यापारिक प्रगति का बडा लाभ पहुंचा। इतना होते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि राजस्थान म व्यापारिक गति मन्द थी क्योंकि यहाँ माल इकट्ठा करन की सुविधा तथा यातायात और सुरक्षित मार्गों का अभाव बना रहा।'[1]

व्यापारिक कर

वस्तुओं पर बिक्री कर लगाया जाता था जिस माप भी कहत थे। जानवरों के क्रय विक्रय पर 'खूटा फिराई तथा दपोटा कर लिया जाता था। बिक्री कर में अनाज की बिक्री का कर मुख्य था।[2] बीकानेर राज्य म लगात नामक कर लगाया जाता था जो वस्तुत सीमा शुल्क आयात निर्यात कर तथा चुगीकर का सामूहिक नाम था। यह कर मुख्य रूप स उन वस्तुओं पर लिया जाता था जा बाहर से आती थी बाहर जाती थी राज्य क्षेत्र म गुजरती थी या यहा बिकती थी।

विनिमय हेतु मुद्रा का प्रचलन

व्यापारिक सुविधा के लिए राजस्थान म मुद्रा का प्रचलन था जा अलग अलग आकार और तोल की थी। अभिलेखीय स्रोतों स हम कई मुद्राओं का उल्लख मिलता है। इनम स सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मुद्रा द्रम थी।[3] इनके अतिरिक्त हाएल और रूपक का भी प्रचलन था। 15वीं सदी के अनेक लेखों म टका के सोने चाँदी व ताँबे के होने के प्रमाण मिलते हैं।[4] एक टके का तौल चार माशा होता था। कुम्भाकालीन सुन्दर मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जो स्वर्ण निर्मित हैं। इनका आकार चौकोर या गोल है। ताँबे के भी अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं। मध्ययुग म तुर्ककालीन और मुगलकालीन सिक्के भी प्रचलित रहे है। इन सिक्को के विषय म डा गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है कि— इन सिक्कों को फिरोजशाही आलमशाही शालमशाही नौरंगशाही और अकबरी सिक्के कहते थे। इनम चाँदी अधिक होती थी और मिलावट का अनुपात कम होता था। ताँबे के पैसों को कदिया ढागला

1 4 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 493-95

2 डॉ जी एम एल देवडा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था पृ 179

3 डॉ मांगीलाल व्यास मयक जोधपुर राज्य का इतिहास p 244

स्वरूपशाही आदि नामों से जाना जाता था। 'गुमानशाही' और 'चलनी मुद्राओं' का प्रयोग कोटा में होता था। कुचामनी, चित्तौडी झाडशाही, अखैशाही चाँदौडी मीरखानी, शिवशाही आदि कई सिक्के होते थे जिनमें चाँदी का अनुपात दस माशे या पाँच माशे हुआ करता था। इन सिक्कों को राजस्थान में सभी जगह ले लिया जाता था परन्तु चाँदी के भाव के अतिरिक्त 'बट्टा' काट लिया जाता था।"

साहूकार

मध्यकालीन व्यापारिक जीवन में साहूकारों की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण थी। ये सिक्कों में मिलावट की जाँच करते थे, उधार देते थे और क्रय विक्रय किया करते थे। बैंकिंग प्रणाली के अभाव में साहूकारों का महत्त्व व्यापार वाणिज्य की दृष्टि से बहुत अधिक था। डा शर्मा के अनुसार—'कृषकों को बीज की आवश्यकता के अवसर पर या रुपया की आवश्यकता पर वे कर्ज देते थे जिसे वे मूल और ब्याज सहित निश्चित समय में वसूल कर लिया करते थे। राज्य को भी संकट के समय वे सहायता देते थे। एक स्थान से जब दूसरे स्थान पर रुपया की आवश्यकता होती थी तो हुण्डी के द्वारा मुद्रा भेज दी जाती थी। ऐसे धन पर सूद की दर एक रुपये पर मासिक एक आना होता था। राजस्थान के बाहर भी स्थानीय साहूकार अपनी दुकानें स्थापित करते थे और आदान प्रदान में सहायता पहुचाते थे।'[1] डॉ एन के सिन्हा ने इन साहूकारों की आलोचना करते हुए कहा है कि ये सेठ या साहूकार बड़ी दरों पर कर्ज देकर मूल से भी ब्याज अधिक वसूल कर लेते थे और गरीब किसान का सर्वस्व अपहरण कर लेते थे। इस अर्थ में आर्थिक विप्लव या युद्ध की गड़बड़ी के समय वे नृशंस रूप से अपने स्वार्थ की सिद्धि करते थे।'[2] किन्तु डा शर्मा ने साहूकारों की उपयोगिता का समर्थन करते हुए कहा है कि— मेरे विचार से आजकल जैसे बैंकों के अभाव में वाणिज्य और व्यापार की अभिवृद्धि में उनका खूब योगदान रहता था।"[3]

वस्तुओं के मूल्य

मध्य युग के अध्ययन काल में दस्तकारों की अधिकता के कारण वस्तुओं का उत्पादन बहुत होता था, किन्तु उस अनुपात में क्रेता नहीं होते थे। फलतः माँग व पूर्ति के आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार उस समय वस्तुओं की कीमत बहुत कम थी। डा शर्मा के अनुसार 10 मन गेहू के दाम 14 से 16 रुपये होते थे। 10 मन जौ की कीमत 9 से 10 रु होती थी। एक मन दाल की कीमत 1 रु तथा एक मन घी के दाम 25 रु से 30 रु होते थे। साधारण साड़ी की कीमत 2 रु एक पगड़ी की कीमत 2 रु और 10 गज लंबी छींट की कीमत 2 रु होती थी। इसी प्रकार साधारण ऊँट की कीमत 12 से 35 रु घोड़े की कीमत 5 से 20 रु गाय की 2 से 5 रु बैल की 12 से 27 रु की कीमत होती थी।[4]

1 3 *Dr G N Sharma* Social Life in Medieval Rajasthan p 337–342
2 *Dr N K Sinha* Survey of Indian Social Life p 178
4 वही p 313–15

इस विवरण से स्पष्ट है कि उस समय वस्तुओं के मूल्य बहुत कम थ किन्तु उसी क अनुपात म वतन या आय भी कम होने के कारण लोगों की क्रय शक्ति कम थी। कृषकों का कम पदावार होन के कारण बेगार मे काम करना पडता था तथा दस्तकारों की दशा ठीक न थी। केवल दक्ष दस्तकार जो राजाश्रय म रहते थ उन्ही की दशा सम्माननीय थी।

व्यापारिक माग (Trade Routes)

व्यापारिक सुविधाओं के लिए अनेक व्यापारिक मार्गों का निर्माण हो चुका था। राजस्थान की भौगोलिक स्थिति भी अन्य राज्यों स व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने म सहायक रही। अकबरनामा म हम कई व्यापारिक मार्गों का उल्लेख मिलता है।[1] आगरा से अहमदाबाद तक एक माग फतहपुर सांगानेर अजमेर व नागौर होता हुआ जाता था। विलियम फिंच के अनुसार आगरा स चित्तौड एव चित्तौड स अहमदाबाद तक का माग चाटसू लाडनू मेडता एव जालोर होता हुआ जाता था।[2] तारीख ए मुबारकशाही से ज्ञात होता है कि दिल्ली मालवा माग नागौर व ग्वालियर होता हुआ जाता था।[3] एक माग देवल बन्दरगाह स मडोर होत हुए दिल्ली तक जाता था। एक अन्य माग अजमेर स नागौर होत हुए अयोध्या तक जाता था। सारगपुर मदसौर या झालावाड होत हुए आगरा स अहमदाबाद जाने का भी एक माग था। आगरा स माण्डू जान के लिए मडता चित्तौड रणथम्भौर, कोटा गागरोन और उज्जन होकर जाना पडता था। मालवा जाने के लिए उदयपुर डूगरपुर बाँसवाडा रणथम्भौर व बयाना होकर भी जाया जा सकता था।

एक रास्त स कई रास्ते जुडे हुए थ। अजमेर स कई सडकें आमेर मवाड सिवाना साँभर और चित्तौड स रणथभोर और अजमेर जान के माग थ।[4] ये समस्त माग सामरिक एव व्यापारिक दोनो दृष्टियो मे उपयोगी थे।[5] इन सडक मार्गों क विषय म डा गोपीनाथ शमा का कथन है कि– इन सडकों का उपयोग व्यापारिक सनिक तथा सामाजिक था। सडकें कच्ची और मिट्टी की होती थी जिसस बरसात म यातायात की कठिनाई अनुभव होती थी। लम्बी सडकों की यात्रा जो जगली या रेतीले भागो मे करनी होती थी खतरे से खाली नहीं थी क्योंकि चोरी, डकती तथा हिंसक पशुओं का उनमे भय बना रहता था। नदियो और नालो पर पुल नहीं होने स वर्षा ऋतु मे यात्रा करना असुविधाजनक होता था। फिर भी इन सडकों स साँस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक लाभ होते रहते थे।[6]

1 4 अकबरनामा अबुल फजल भाग–1 p 7–14 व भाग 2 p 517–539
2 *William Finch* Early Travels in India p 170
3 तारीख ए मुबारकशाही p 34 166 193 व 217
5 डा गोपीनाथ व्यास मयक जोधपुर राज्य का इतिहास p 243
6 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 495

ग्रामीण अर्थव्यवस्था
(Rural Economy)

मध्यकालीन राजस्थान की ग्रामीण अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि था। पशुपालन और जाति आधारित व्यवसायों का भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान था।

आर्थिक जीवन का आधार कृषि होने के कारण भूमि का बड़ा महत्त्व था। राज्य की समस्त भूमि का अधिकारी स्वयं राजा हुआ करता था। इसी कारण राजा को भूपाल, पृथ्वीपति भूपति आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता था। डा मांगी लाल व्यास मयंक के अनुसार– राजा द्वारा प्रदत्त भूमि को पाँच भागों में विभाजित किया गया है—खाला भूमि, जागीर भूमि, शासन अथवा मुआफी की भूमि और चरणोत भूमि।[1] इन भूमियों का विवरण पिछले अध्याय में दिया गया है। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दों में– स्वामित्व एवं भूमि की उर्वराशक्ति के आधार पर भूमि का वर्गीकरण किया जाता था। सिंचाई की सुविधा वाली जमीन 'पीवल', पानी से भरी हुई जमीन 'गलत हांस', जोती जाने वाली 'हकत बकत', काली उपजाऊ जमीन 'माल', पहाड़ी जमीन 'मगरो', कंकर वाली जमीन 'काकड़' आदि। इन सभी प्रकार की भूमि को 'क्यारी' और 'वटकाया कटका' में बाटा जाता था। रहट या चरस या चमड़े की टोकरियों से सिंचाई की जाती थी। कहीं कहीं नदी के ऊपर गड्ढों में पानी भरकर सिंचाई होती थी और कहीं तालाबों से नहर ले जाकर भूमि को सींचा जाता था।[2]

वर्ष भर में दो फसलें होती थीं। सर्दी में पैदा होने वाली फसल को स्यालू (खरीफ) तथा गरमी में पैदा होने वाली फसल को उनालू (रबी) कहते थे। राजस्थान में बाजरा, मूंग, मोठ, चावल, ग्वार आदि खरीफ की पैदावार थी व गहूँ, चना, सन, सरसों, तम्बाकू, अलसी, जीरा, धनियाँ आदि रबी की पैदावार था। मारवाड़ में बालू मिट्टी की अधिकता तथा वर्षा की कमी के कारण अधिकांश क्षेत्र में एक ही फसल पैदा की जाती थी। मारवाड़ में सिंचाई का मुख्य साधन कुएं थे। डा मांगी लाल व्यास की मान्यता है कि गहराई एवं जल की मात्रा के अनुसार अलग अलग प्रकार के कुएँ होते थे।[3] मुहनोत नैणसी ने चांच, कोसीटो, वाहर, अरटवावनी, पावटा आदि प्रकार के कुओं का वर्णन किया है।[4] मरु प्रदेश में मुख्य रूप से बाजरा, ज्वार, मोठ, गेहूं, जौ, चना, ग्वार, तिल, मूंग, कपास, मक्की, ककड़ी, मतीरा आदि उत्पन्न होते थे। कुछ जंगली फल व फलियाँ (सांगरी, कैर, कुमठा आदि) भी उत्पन्न होती थीं।

कृषि के बाद पशुपालन का ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस सम्बन्ध में डॉ. शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है कि राजस्थान अपने

1 3 डॉ मांगीलाल व्यास मयंक जोधपुर राज्य का इतिहास, p 234 235
2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 487
4 मुहनोत नैणसी मारवाड़ रा परगना री विगत भाग-1 पृ 205-394

पशु धन के लिए बड़ा प्रसिद्ध रहा है। इसलिए पशुओं के चमड़े से घी तेल आदि द्रव पदार्थों के रखने के लिए सीदड़े (भाण्ड) ढाल, तलवार की म्यान, घोड़े का साज काठी आदि यहाँ अच्छे बनते रहे।'[1] बैल व ऊँट कृषि के काम में आते थे, गाय से दूध प्राप्त होता था। यातायात एवं व्यापार की दृष्टि से भी पशुओं का महत्त्व था।

महत्त्व की दृष्टि से कृषि एवं पशुपालन के उपरान्त ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उद्योगों (जातिगत व्यवसायों) का स्थान था। गाँव कच्चे माल के उत्पादन का केन्द्र थे। बड़े उद्योग तो कस्बों और शहरों में ही स्थापित थे किन्तु ग्रामीण क्षेत्रों की सामान्य आवश्यकता की वस्तुओं का उत्पादन गाँवों में ही होता था। डा मांगी लाल व्यास के शब्दों में— जाति व्यवस्था का मूल आधार भी विभिन्न आर्थिक क्रियाएँ ही रहा है। प्रत्येक गाँव अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता था। नैणसी द्वारा लिखित परगनों की विगत से ज्ञात होता है कि प्रत्येक गाँव में अलग अलग जाति के लोग रहा करते थे जो अपने जातीय धन्धे के माध्यम से गाँव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे।[2] डॉ जी एस एल देवड़ा की मान्यता है कि ' गाँव जाति विशेष से आबाद थे किन्तु गाँवों में अन्य जातियों के लोग भी निवास करते थे।[3] इन जातियों में खाती कुम्हार मीणी जुलाहे, बुनकर रंगर, ढेढ खटीक माची सुनार छीपा दर्जी कलाल पिंजारा, भड़भूंजे हलालखोर (कमाई) नाई भंगी आदि प्रमुख थे। नमक बनाने वाले लोग खारवाल तथा व्यापारी लूणिया महाजन कहलाते थे। नमक उत्पादन केन्द्रों में साँभर डीडवाना पचपद्रा कचर रेवासर (शेखावाटी) लूणकरनसर छापुर (बीकानेर) और कानोद (जैसलमेर) थे। कागज घोसुंडे व सवाई माधोपुर में हाथ से बनाया जाता था जो बहीखाते व दस्तावेजों में प्रयुक्त होता था। गुलाब का इत्र व गुलाब जल काटा कोठारिया व पुष्कर में शराब महुए से प्रायः सभी जगह खसखस का इत्र सवाईमाधोपुर में पत्थर व संगमरमर कोटा व मकराना में आतिशबाजी कोटा व जयपुर में, साबुन व लकड़ी का काम उदयपुर में काँच की नक्काशी प्रतापगढ़ में, घोड़े की काठियाँ जालौर में तलवार सिरोही में व बन्दूक की खालियाँ मालपुरा में बनते थे।'[4]

पारिश्रमिक का उल्लेख करते हुए डा गोपीनाथ शर्मा का कथन है कि 'किसी भी उद्योग में लगे हुए श्रमिकों का जो पारिश्रमिक दिया जाता था वह नाम मात्र का होता था। एक साधारण शिल्पी को चार आने से छः आने दैनिक पारिश्रमिक मिलता था।'[5] इस प्रकार राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल में आर्थिक जीवन सामान्य था।

---

1 4 5 पूर्वोक्त, पृ 483 व 495
2 डा मांगीलाल व्यास मयंक जोधपुर राज्य का इतिहास पृ 238
3 डा जी एस एल देवड़ा राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था पृ 217

11 राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन— मन्दिरों की भूमिका

(Religious Movements in Rajasthan— Role of Temples)

मध्यकालीन राजस्थान की धार्मिक स्थिति

राजस्थान युग-युगान्तर से धर्म और संस्कृति का केन्द्र रहा है। श्रद्धा विश्वास, पुण्य कार्य धार्मिक शिक्षा आदि धर्म के अन्तर्गत समझे जाते रहे। मध्यकाल में भारतवर्ष की जो धार्मिक स्थिति थी वैसी ही स्थिति राजस्थान में भी थी। यहाँ पर हिन्दू धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभाजित था जिसके अन्तर्गत अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती थी जिनमें ब्रह्मा सूर्य शिव शक्ति राम, कृष्ण आदि देवता प्रमुख थे।[1] शूरवीर राजपूतों में शैव और शाक्त धर्म का प्रभाव अधिक था, वहाँ वैश्यों में जैन धर्म का प्रभाव अधिक था। आर्यों के वैदिक धर्म की जड़ें भी यहाँ गहरी थी। वैदिक धर्म के प्रभाव को राजस्थान में आज भी देखा जा सकता है। मेवाड़ के बप्पा रावल क्षेत्रसिंह तथा महाराणा कुम्भा वैदिक यज्ञों को करते थे। जोधपुर के अभयसिंह और जयपुर के सवाई जयसिंह ने भी यज्ञ परम्परा को जारी रखा। 12वीं शताब्दी में राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश हुआ।

बी एम दिवाकर के अनुसार महमूद गजनी के समय से राजस्थान में इस्लाम का प्रवेश माना जाता है। वैसे 12वीं शताब्दी में इस धर्म का राजस्थान में प्रचार शुरू हुआ। देश के अन्य भागों को जीतकर तो सुल्तानियत काल के शासकों ने शक्ति व तलवार के जोर से इस्लाम का प्रचार किया जिसमें काश्मीर पंजाब दिल्ली उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल प्रमुख हैं किन्तु भारत के इस भाग पर उनका स्थाई अधिकार कभी नहीं रहा और उनके तूफानी व विनाशकारी आक्रमण राजस्थान के धार्मिक विश्वासों को अपनी शक्ति से नहीं डिगा सके। राजस्थान में इस्लाम का प्रचार सन्तों और फकीरों के माध्यम से हुआ। अजमेर के ख्वाजा मुइनउद्दीन चिश्ती का

1 डॉ देवाराम मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन पृ 7

नाम कौन नही जानता। इनकी दरगाह पर हज करने के लिए दूर दूर देशों स यात्री ग्राते हैं। ग्रकबर को भी ख्वाजा साहब की कृपा स ही जहाँगीर जसा एक मात्र पुत्र प्राप्त हुग्रा था। ख्वाजा साहब ने ग्रपनी सरल ग्रौर सहज भावना स इस धम को लोकप्रिय बना दिया। उ ही के यक्तिगत प्रभाव स राजस्थान म इस्लाम का प्रचार हुग्रा। इसके ग्रतिरिक्त नागौर मेडता जालौर ग्रौर मांडल म भी फकीरो की शक्ति द्वारा इस्लाम का प्रचार हुग्रा। ग्राज दिन भी उन फकीरो व पीरो की दरगाह पर वार्षिक मेले होत हैं ग्रौर जन साधारण की यह मा यता है कि उनके सकट इन पीरो की ग्राराधना स दूर हो जाते हैं। राजस्थान क राजा सदा सहिष्णुता का पालन करते थ। उ होने जहाँ जन व ग्र य धर्मों के मन्दिरो की स्थापना मे खुल हाथ स दान दिया था वहा वे इस्लाम धम का भी पूर्ण सरक्षण प्रदान करते थे। महाराजा ग्रजीतसिंह ग्रौर जगतसिंह ने ख्वाजा साहब की दरगाह क ग्रजमर के ग्रास पास कई गाँवा का जागीर म भी भेंट दिए थ। ग्रकबर के समय से तो मुगलो क ग्रधीन ग्रा जान के कारण ग्रजमर म इस्लाम का कद्र ही बन गया ग्रौर सभी बादशाहा न दरगाह क गठन व विस्तार म पूरा योग दिया। कि तु समय समय पर कठोर शासको की ग्रधीनता म तोड फोड की नीति ग्रपनाने कर शासको न इस्लाम के प्रति शत्रु भावना को ज म दिया ग्रौर इस क्षेत्र म इस्लाम की प्रगति को धक्का लगा। हिन्दुग्रो ग्रौर मुसलमानो म कटुता बढी कि तु साथ साथ रहने के कारण य एक दूसर को प्रभावित करत रहे ग्रौर सांस्कृतिक सम वय ने एक नई सभ्यता को ज म दिया। राजपूत राजाग्रो ने मुसलमान कलाकारो व शिल्पियो को ग्रपने यहाँ स्थान देकर ग्रपनी उदारता का परिचय दिया।[1]

धार्मिक सुधार ग्रौर भक्ति प्रवाह

डा गोपीनाथ शमा का मत है कि परम्परागत धर्मों म सभी वग ग्रौर स्तर के यक्ति विश्वास रखते थे ग्रौर रखत है। पर तु जब देश म कई विचारक परम्परागत धम म ग्राने वाले दोषो का निकालने का प्रयत्न कर रह थ ग्रौर धम सुधार की प्रवृत्ति बल पकड रही थी राजस्थान भी इस दिशा म पीछे नही रहा। इस्लाम क प्रभाव से ग्रब य चि तक धार्मिक मनन को प्रधानता देन लग। जात पाँत के भेदभावो स ऊपर उठकर मनुष्य जाति क कल्याण क माग की ग्रोर विचारको का ध्यान गया। धम क पाखण्ड स सगठन की चेतना जाग्रत हुई। साथ ही यह भी चेष्टा बनी रही की ग्राधारभूत भारतीय विचार ग्रौर धम की ग्रोर लोगो की श्रद्धा बनी रहे ग्रौर परम्परागत धम म पदा होने वाल विकारो को भक्ति क द्वारा परिमार्जित किया जाए। भजन मनन कीतन ग्रादि साधनो स ईश्वर म ग्रासक्ति पदा की जाए। इस प्रकार की प्रगति को भक्ति ग्रा दोलन या धार्मिक सुधार की सना दी जाती है। राजस्थान के मध्यकालीन ग्र थो म इन विचारो का प्रतिपादन किया गया था। विप्रबोध (1688) म नवचेतना ग्रौर धम के प्रति नए दृष्टिकोण

1 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 399-400

अपनाने के संकेत मिलते हैं। इसमें हरि को सर्वोपरि मानते हुए तथा प्रार्थना का महत्त्व बतलाते हुए योगी, यति, पण्डित और शेखो की विशेष स्थिति की निंदा की गई है। उग्रराज नामक लेखक ने ईश्वर को पिदर और शक्ति को मादर बतलाया है। पश्चिमाग्निस्तोत्र में राम और रहीम, गोरख और गेसू, पीर और मीर एवं अल्ला और अकबर में कोई भेद नहीं माना गया है। इससे स्पष्ट है कि इस काल से हिंदू मुस्लिम संस्कृति के सामंजस्य ने विचारों में साम्य और भावों में उदारता का संचार कर दिया था।'[1]

इस सामंजस्यवादी भावना ने धार्मिक रूढियों एवं कुरीतियों के निवारण हेतु राजस्थान में धार्मिक सुधार एवं भक्ति के प्रवाह को प्रोत्साहित किया। धार्मिक सुधार आंदोलनों को प्रेरित करने में तत्कालीन कुछ धर्मों व मुस्लिम शासकों की अन्य धर्मावलम्बियों के विरुद्ध की गई कार्यवाही ने भी पर्याप्त योगदान किया यद्यपि सूफी संतों एवं इस्लाम धर्म की सरलता एवं सादगी ने इस्लाम धर्म के प्रति लोगों में आकर्षण उत्पन्न किया था।

मानव जीवन की सरल और सहज भावना इस्लाम धर्म के प्रचार में फलदायी रही। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार नैतिक और धर्म की कुछ मूलभूत समस्याओं की ओर सूफी संतों के उदारवादी दृष्टिकोण ने न केवल राजस्थान में 13वीं सदी के इस्लामिक जीवन में ही प्रेरणात्मक शक्ति प्रदान की बल्कि उनके ये प्रयास परवर्ती काल तक बने रहे।[2]

डा पेमाराम की मान्यता है कि सैनिक दल और सूफी संतों के फलस्वरूप ही यहाँ इस्लाम का प्रचार नहीं हुआ बल्कि इसके लिए यहाँ की सामाजिक पृष्ठभूमि भी उत्तरदायी थी। हिंदू समाज में अनेक जातियाँ उपजातियाँ एवं कई नई नई जातियाँ बन चुकी थी। इस युग में अन्त्यज समझी जाने वाली जातियों की स्थिति बड़ी दयनीय थी। भील डोम चाण्डाल मच्छीमार व्याध धोबी चिड़ीमार, मातंग चमार नट गांछे जुलाहे खटीक आदि अन्त्यज जाति के अन्तर्गत आते थे। इनके घर बस्ती के बाहर होते थे तथा इनके हाथ का छुआ खाना-पीना निषिद्ध था। फलतः अपनी हीन दशा के कारण अनेक जातियाँ इस्लाम की ओर आकर्षित हुई जिसमें सामाजिक समानता की भावना विद्यमान थी।'[3]

राजस्थान के लोक देवता—राजस्थान में उपरोक्त अन्त्यज जातियों में धर्म की सामाजिक समानता की ओर आकर्षण उत्पन्न हुआ और उनमें धर्मांतरण की भावना उत्पन्न की जिसके कारण मुस्लिम शासकों ने उन्हें इस्लाम धर्म अपनाने को प्रोत्साहित किया। बाँकीदास री ख्यात में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है। 'राजस्थान की अन्त्यज जातियों की स्थिति बहुत खराब थी। अन्त्यजों के हाथ का छुआ हुआ पानी पीना पाप समझा जाता था। परिणामस्वरूप ये जातियाँ इस्लाम की

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास पृ 104
2 *Dr G N Sharma* Social Life in Medieval Rajasthan p 220
3 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आंदोलन पृ 25

और आकर्षित हुई क्योंकि इस्लाम धर्म में सामाजिक समानता की भावना विद्यमान थी। सीमावर्ती भागों के कई गाँव मुस्लिम धर्म के प्रभाव में आ चुके थे। इनमें भरतपुर, मेवात, फतेहपुर, झुंझुनू, शेखावाटी आदि प्रदेशों का अधिकांश भाग सम्मिलित था।'[1] डॉ पेमाराम की मान्यता है कि 'इस समय मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप मन्दिर ध्वंस, हिन्दुओं का उत्पीडन तथा गौवध होने लगा तो ऐसी स्थिति में धर्म एवं गौ धन की रक्षा के साथ स्थानीय जनता की रक्षा करना, अन्त्यजों को समाज में उचित स्थान दिलाना आदि महत्त्वपूर्ण समस्याएँ प्रस्तुत हो गई जिनका निराकरण होना आवश्यक था। भाग्यवश ऐसी विकट परिस्थितियों में कुछ ऐसे व्यक्ति जनता के सामने आए जिन्होंने स्थानीय जनता एवं गौवंश की रक्षा हेतु अपने प्राण न्यौछावर कर दिए एवं साथ ही जिन्होंने निम्न जातियों का ऊपर उठाने का प्रयास किया। ऐसे व्यक्तियों में गोगाजी, पाबूजी, तेजाजी तथा रामदेवजी प्रमुख थे जिन्हें बाद में जनता ने लोक देवता का रूप दे दिया। इसी समय कुछ ऐसे व्यक्ति भी हुए जिन्होंने अपनी वीरता, सिद्धि तथा चमत्कार द्वारा लोगों को प्रभावित किया जिनमें मल्लीनाथजी, देवजी, हरभूजी आदि प्रमुख हैं। लोक देवता पहले तो अपने अपने वर्ग में पूजे गए और बाद में फिर इन्हें सर्वसाधारण द्वारा भी मान्यता मिली। इनमें मल्लीनाथजी और रामदेवजी तो ऐसे थे, जिन्होंने बाह्य आडम्बरों का विरोध करते हुए नाम स्मरण तथा साधु सन्तों का सत्संग करने पर जोर दिया। इन सन्तों की जीवनचर्या और उपलब्धियाँ युग युग के लिए अमूल्य धरोहर हैं।[2]

राजस्थान में भक्ति आन्दोलन

11वीं से 14वीं शताब्दी के मध्य राजस्थान के धार्मिक जीवन में एक नई पृष्ठभूमि का निर्माण हो चुका था। 15वीं शताब्दी के धार्मिक जागरण ने इस पृष्ठभूमि को और अधिक प्रोत्साहन दिया जिसका प्रारम्भ राजस्थान में धन्ना और पीपा ने किया। ये सन्त रामानन्द और कबीर से प्रेरणा ले रहे थे जो इस समय भारतीय धार्मिक जीवन में एक नई विचारधारा को जन्म दे रहे थे।[3] राजस्थान में विभिन्न धर्मों के अनुयायी परस्पर प्रेमपूर्वक रहते थे और उनमें धर्म सहिष्णुता की भावना थी किन्तु मुसलमानों के राजस्थान में प्रवेश करते ही यहाँ का वातावरण अशान्त व क्षुब्ध हो उठा। मुस्लिम आक्रमणकारियों ने मन्दिरों को नष्ट किया व हिन्दुओं को बलपूर्वक मुसलमान बनाना प्रारम्भ कर दिया। समाज में इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इस काल में अनेक लोक देवता एवं सन्त हुए जिन्होंने हिन्दू मुस्लिम समन्वय का समर्थन किया। इन सन्तों ने धार्मिक आडम्बरों का विरोध किया और हृदय की शुद्धि व ईश्वर की भक्ति पर जोर दिया। धार्मिक क्षेत्र में इस परिवर्तन को भक्ति आन्दोलन या धर्म सुधार आन्दोलन कहा जाता है। उत्तरी भारत में इसका श्रेय सन्त रामानन्द को दिया जाता है। राजस्थान में भक्ति

1 बाँकीदास री ख्यात पृ 167

2-3 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन पृ 30-31 व 63

आन्दोलन को प्रबल रूप देने मे पाबूजी रामदेवजी, हरभूजी व गोगाजी का योगदान उल्लेखनीय है। मुस्लिम आक्रमणो ने इसम प्रेरक का काय किया।

राजस्थान मे भक्ति आन्दोलन के मुख्य सन्त

राजस्थान म भक्ति एव धम सुधार आन्दोलन मे जिन सन्तो ने प्रमुख योगदान किया वे निम्नांकित थे—

(1) धन्ना—इनका जन्म 1419 ई म टोंक जिले के एक गाँव धुवन (धुआ) म एक जाट परिवार म हुआ था। ये रामानन्द के शिष्य थ।[1] आरम्भ स ही उनकी रुचि भगवत् भजन की ओर थी। उन्होने काशी जाकर रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया। ये ईश्वर भक्त होते हुए गृहस्थ बने रहे व कृषि काय करत रहे। ये प्रारम्भ म मूर्ति पूजक थे किन्तु रामानन्द के प्रभाव स निगुण भक्ति के अनुयायी हो गए।[2] 'इनका विचार था कि ईश्वरानुभूति आन्तरिक खोज और ध्यान द्वारा ही की जा सकती है तथा रामनाम जपने से मोक्ष प्राप्त हो सकती है। उन्होन जाति पर आधारित विभेद का विरोध करते हुए बताया कि सब प्राणियो मे एक ईश्वर का ही निवास है।[3]

(2) सन्त पीपा—सन्त पीपा स्वामी रामानन्द के प्रमुख शिष्यो म स एक थ। ये गागरोन (कोटा स 20 मील दूर स्थित दुग) के शासक थ तथा जाति से खीची राजपूत थ।[4] इनका जन्म 1425 ई म हुआ था। ये आरम्भ स ही ईश्वर भक्ति म लीन रहते थ। पीपा की प्राथना पर रामानन्द कबीर व रैदास एक बार गागरोन आए थे। बाद म वे स्वय राजपाट त्याग कर द्वारिका गए और रामानन्द के शिष्य बन गए। बाद म वे गागरोन वापस आकर एक गुफा म रहने लगे।

सन्त पीपा की मान्यता थी कि ईश्वर प्राप्ति हेतु गुरु की कृपा अपेक्षित है। ईश्वर की खोज मन के अन्दर करनी चाहिए। वे आत्म निवेदन पर जोर देते हुए कहते थ हे प्रभो! मै तुम्हारा सेवक हू और तुम मेरे स्वामी हो। वे साधु सगत व समागम को अच्छा समझते थे तथा अभिमान मोह बुद्धि माया आदि को भक्ति म बाधक मानते थे। वे मूर्ति पूजा व बाह्य आडबरो के विरोधी थ। वे समाज म ऊँच नीच के भेदभाव के भी विरोधी थे।

(3) जाम्भोजी—जाम्भोजी का जन्म 1451 ई म जोधपुर राज्य के अन्तगत नागौर परगने के पीपासर म गाँव म हुआ था। ये पँवार वशीय राजपूत थे। इनके पिता का नाम लोहटजी व माता का नाम हाँसा था जो भाटी वश की थी।[5] ये आरम्भ स चिन्तनशील व मितभाषी थे जिसके कारण लोग उन्हे गूगा समझते थ।

1 भक्तमाल नाभादास p 31
2 प्रियदास भक्तमाल की टीका p 340-41
3 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान म धार्मिक आन्दोलन पृ 77
4 फर्कुहर An Outline of Religious Literature of India, p 230
5 स्वामी ब्रह्मानन्द जी जम्भदेव चरित्र पृ 33

डा गोपीनाथ शर्मा ने इनकी आश्चयजनक घटनाम्रा पर टिप्पणी करत हुए कहा है कि 'सम्भवत अचम्भित करतूतो स लोग इ ह जाम्भोजी कहने लगे हा । 7 वप की आयु म इ हे गायें चराने भेज दिया गया । 16 वप की अवस्था म इन्हे आत्म चिंतन से सद्गुरु का साक्षात्कार हुआ । विश्नोई सम्प्रदाय की मान्यता है कि जाम्भोजी ने गुरु गोरखनाथ स दीक्षा ग्रहण की थी ।"[1] कि तु डा पमाराम इसका खण्डन करत हुए कहत हैं कि गोरखनाथ तो जाम्भोजी स कई सौ वप पहले हुए थ ।

माता पिता की मृत्यु हाने पर य गृह त्याग कर अपना अधिकांश समय सम्भराथल नामक स्थान पर रहकर सत्सग व हरिचचा म बिताने लगे । इसी स्थान पर 1485 इ म उन्होने विश्नोई सम्प्रदाय की स्थापना की । 41 वप तक अपन मत का प्रचार करते हुए 1526 ई म तालवा गाँव मे उनका देहावसान हो गया ।

डा पमाराम के अनुसार जाम्भोजी एक महान् विचारक थ जिन्होन ईश्वर आत्मा मोक्ष स्वग नरक जीव मन मरण आदि पर अपने विचार प्रकट किए तथा मोक्ष प्राप्ति हेतु गुरु का निर्देशन, विष्णु जप एव सत्संग पर जोर दिया । जाम्भोजी एक ईश्वर म विश्वास करते थे जो सबका स्वामी है ।'[2] डा गोपीनाथ शमा के अनुसार वे केवल मननशील ही नही थ वरन् उस युग की साम्प्रदायिक सकीर्णता कुप्रथाओ एव कुरीतियो के प्रति भी जागरूक थे । वे चाहत थे कि अन्धविश्वास और नतिक पतन के वातावरण स सामाजिक दशा को सुधारा जाए और आत्म बोध क द्वारा कल्याण के माग को अपनाया जाए ।[3] कुछ हिन्दी के शोध विद्यार्थियो की धारणा है कि य विष्णु क अवतार थे और अपने अनुयायियो म दिन म पाँचो समय विष्णु की पूजा करने को कहत थ ।

जाम्भोजी का ग्र थ जम्भवाणी है जो राजस्थानी भाषा म लिखा गया है । इनकी शिक्षाओ म वष्णव अन्य धम जन और इस्लाम धम की श्रेष्ठ बातो का समन्वय स्पष्ट रूप म दिखाई देता है । उ होने मुर्दो को गाडना उचित बताया । इनम धार्मिक सहिष्णुता भी बहुत थी कि तु फिर भी अन्य धर्मो की आलोचना करत थ । विशेष रूप स जन धम इनकी आलोचना का केन्द्र रहता था । इनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय विश्नोई सम्प्रदाय कहलाता है । इन्ह 20+9 (बीस+नौ) = 29 नियमो का पालन अनिवाय रूप से करना पडता है ।[4]

जाम्भोजी द्वारा प्रतिपादित 29 नियमो म प्रमुख नियम है—प्रतिदिन प्रात स्नान करना शील सतोप बाह्य व आ तरिक पवित्रता त्रिकाल सध्या आरती व हरिगुण गान हवन पानी व दूध को छानकर पीना, वाणी सयम रखना क्षमा व दया का धारण जीव दया पशुओ व वृक्षो की रक्षा आदि का पालन करना तथा चोरी, नि दा झूठ वाद विवाद अमल तबाखू भाँग मद्य आदि का त्याग करना ।

1,3 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 505

2 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान म धार्मिक आन्दोलन p 87

4 डा माहेश्वरी जाम्भोजी विश्नोई सम्प्रदाय और साहित्य, भाग-1 p 434-35

डा शमा और व्यास क अनुसार "जाम्भाजी केवल मननशील ही नही थ वरिक वह एक महान् विचारक और उस युग की साम्प्रदायिक सकीर्णताओं एव कुरीतियो के प्रति जागरुक भी थे।"[1]

(4) सन्त दादू—16वी शताब्दी मे राजस्थान मे दादू नाम क एक प्रमुख सन्त हुए हैं। इनका ज म वि स 1601 (1544 ई) मे फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को अहमदाबाद म हुआ था। इनकी जाति के सम्बन्ध म विभिन्न मत हैं। आचाय क्षितिज मोहन सेन[2] डा मोतीलाल मेनारिया[3] मोहसिन फानी और विलसन इन्हे धुनियाँ मुसलमान बताते है। इसके विपरीत दादू ग्रन्थी इनकी जाति के विषय म कुछ भी जानकारी नही देते हैं। इतना निश्चित है कि साबरमती नदी म बहते हुए एक नगर ब्राह्मण लोदीराम ने इनकी रक्षा की और इनका पालित किया। जब यह सात वष के हुए तो इनके नानाजी सुखदेव द्वारा 1551 ई म इनका विवाह कर दिया गया।[4] वृद्धानन्द नामक एक साधु स दीक्षा प्राप्त करके दादू चिन्तन साधना म लग गए। उ होने सिरोही कल्याणपुर साभर अजमेर आम्बेर आदि स्थानो का पयटन किया। अन्त म वह 1568 ई साभर आए। यही पर सवप्रथम दादू ने अपने विचारो को प्रकट किया। जब इ होने मुसलमानो के धार्मिक आडम्बरो का विरोध किया तो साँभर के काजी ने इन्हें बहुत कष्ट पहुचाए। 1575 ई म साँभर म ही गरीबदास नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। 1574 ई क बाद 14 वर्षो तक दादू अजमेर म रहे। 1585 ई म अकबर स भी इनकी भेंट हुई। 1602 ई म दादू जयपुर रियासत के नारायणा गाँव मे आ गए और यही 1605 ई म इनकी मृत्यु हो गई।

दादू न अपने विचारो का व्यक्त करने के लिए कविता का माध्यम बनाया। उनके विचारो का सकलन उनके शिष्यो क द्वारा किया गया। यह विचार दादूजी की वाणी और 'दादू जी रा दूहा' म सकलित है। इसम हम दादू क विचारो और सिद्धान्तो के विषय म जानकारी प्राप्त होती है।

दादू की शिक्षाएँ—दादूजी न सन्तो की भाँति ब्रह्म जगत् माया आदि पर जन-साधारण की भाषा म विचार व्यक्त किए। इन्होंने ईश्वर को स्वयभू निराकार, परम ज्योति स्वरूप माया स परे क्रियारहित एव सदा एक रस माना है।[5] माया क विषय म उनका कथन था कि आत्मा व परमात्मा के बीच अन्तर डालने वाली शक्ति ही माया है।' दादूजी मोक्ष म विश्वास नही करते थ। व जीवन मुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति मानते थ। यह मुक्ति ईश्वर की उपासना स प्राप्त की जा सकती

1 डा शर्मा व व्यास राजस्थान का इतिहास
2 क्षितिज मोहन सेन दादू धमकमलिका p 17
3 डा मोतीलाल मेनारिया राजस्थान का पिंगल साहित्य p 183
4 सुधन्दास श्री दादू चरित्र चिन्तावली p 13
5 दादूजी की वाणी साखी 22

है। उन्होंने गुरु की महिमा को बड़ा महत्व दिया है। गुरु पशु से मनुष्य, मनुष्य से ज्ञानी और ज्ञानी से देवता बना सकता है। देवता से ब्रह्म बनाने में भी वह समर्थ है।

दादू अहंकार को आत्म तथ्य प्राप्ति में सबसे बड़ा बाधक तत्व स्वीकार करते थे। मन के निग्रह द्वारा अहंकार नष्ट किया जा सकता है। हरि स्मरण में मन लगाने के लिए दादूजी ने साधु संगति को आवश्यक बताया। वे बहिर्मुखी साधना के आडम्बर का खण्डन करके अन्तर्मुखी साधना पर बल देते थे। वे संसार को माया जाल में फंसा हुआ समझते हुए कहते थे—

माया साँपणि सब डसे कनक कामिणी होई
ब्रह्मा विष्णु महेस लौं दादू बचै न कोई।[1]

दादू निर्गुण ब्रह्म को मानते हुए उसकी प्राप्ति के लिए कहते हैं कि मानव को अहं छोड़ देना चाहिए क्योंकि—

"जहा राम तहँ मैं नही, मैं तहं नाही राम।
दादू महल बारीक है द्वै को नाही ठाम।।[2]

दादू ने बताया कि विरह रूपी अग्नि में मन के समस्त विकार दूर हो जाते हैं और अहंकार नष्ट हो जाने पर मन उस ब्रह्म में लीन रहता है।

दादू का समाज सुधारक रूप एवं उसका सामाजिक प्रभाव—डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दों में दादू सच्चे मायने में एक समाज सुधारक भी थे। उन्होंने समाज में व्याप्त बुराईयों, आडम्बरों द्वारा भेद भाव आदि का खंडन किया है। उन्होंने हिन्दू एवं मुसलमानों दोनों को समझाया है। वे जाति पाँति एवं वर्ग भेदभाव के पचड़े में विश्वास नहीं करते थे। वे तीर्थ यात्रा के महत्व को भी स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने बताया कि सिर मुंडवाने या जटा बढ़ाकर विभिन्न प्रकार के वेश धारण करने से ईश्वर के साक्षात्कार नहीं होते हैं। दादू ने कहा कि मंदिर और मस्जिद तो हमारे शरीर में ही हैं इसलिए अंतःकरण की उपासना करनी चाहिए। इस भाँति दादू ने बाह्य आडम्बरों का निषेध एवं अंतःकरण की शुद्धि पर बल दिया। चूंकि दादू ने देशकाल एवं वातावरण के अनुरूप सरल एवं सरस भाषा का प्रयोग किया अतएव लोगों को समझने में विशेष दिक्कत नहीं आई और इनका पंथ शीघ्र ही लोकप्रिय होता गया।[3] दादू की शिक्षाओं का लोगों के मस्तिष्क एवं विचारों पर अद्भुत प्रभाव पड़ा और उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी।

दादू पंथ—दादू की ख्याति का आधार उनका दादूपंथ का प्रवर्तक होने में है। उनके 152 शिष्य थे जिनमें 52 मुख्य थे। इनमें सुन्दर दास का स्थान सर्वप्रथम

1-2 दादूजी की वाणी साखी 22
3 डा गुप्ता एवं ओझा राजस्थान का इतिहास, एक सर्वेक्षण p 167

था। डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो म "दादू द्वारा कविता म व्यक्त किए गए विचारो को उनके शिष्यो ने सकलन किया जिनको दादूदयाल की वाणी तथा दादू याल रा दूहा कहते है। इनके अध्ययन से हम दादू के भाव, विचार और सिद्धान्तो की जानकारी कर सकते हैं। इनके शिष्यो मे सुन्दर दास बखनाजी और रज्जब जी विशेष उल्लेखनीय हैं। इस पथ के 52 शिष्य थाचन स्तम्भ कहलाने लगे। इन प्रमुख दादूपथ से अपना मठ थ तो बनाए रखा पर ये होने कई शाखा और प्रशाखाओ का भी प्रवतन कर डाला जिनम खालसा, नागा उत्तराढी विरक्त तथा खाकी मुख्य है। आज भी नारायणा की गद्दी को दादू पथ की प्रधान गद्दी माना जाता है और सभी सम्भा के अनुयायी इसकी मान्यता स्वीकार करते हैं।[1]

(5) मीरा बाई (Mira Bai)—डा गोपीनाथ शमा के अनुसार- जिस युग म सम वय के प्रयत्न तथा सादे और सारगर्भित विचारो की मा यता बढ रही थी उस समय एक राजपूत महिला जिसका नाम मीरा था द्वारा इस विचारधारा का अधिक बल मिला। प्रियदास के भक्तमाल और मेडतियारी ख्यात से मीरा के जीवन की कहानी के कुछ अश स्पष्ट होते हैं। मीरा अपने पिता रत्न सिंह की इकलौती पुत्री थी। इनका जीवन मारवाड के एक गाँव कुडकी म लगभग 1498 ई म हुआ था। इनका लालन पालन इनके दादा दादूजी के यहाँ मेडता म हुआ। जिस वातावरण और परम्परा म इनका बाल्यकाल बीता वह वष्णव धम स ओतप्रोत था। परन्तु जब इनका विवाह महाराणा साँगा के पुत्र भोजराज स हुआ और उनके पति का देहावसान हो गया तो उन्हे अपने ससुराल म विरोधी वातावरण और वधव्य के अभिशाप की यातना स गुजरना पडा। स्वजनो के अभाव और सामाजिक विडम्बना स ग्रस्त मीरा के जीवन म एक नया मोड आया। उन्हे जीवन स मोह घटता गया और उनकी निष्ठा भक्ति भाव और स त सवा की ओर द्रुतगति स बढती चली गई।[2] यह कथन अनेक विवादास्पद मतो स घिरे मीरा के जीवन की ऐतिहासिकता को व्यक्त करता है। डा जी एन शर्मा के ही शब्दो म एक मत के अनुसार वृन्दावन म रहते हुए, अथवा दूसरे मत के अनुसार द्वारिका मे रहते हुए वह नत्य करते करते रणछोडजी की मूर्ति के सामने 1540 ई के लगभग लीन हो गइ।[3]

मीरा की भक्ति भावना—भारत की नारी सन्तो मे मीरां का नाम प्रथम है। उसके काव्य म सांसारिक व धनो का त्याग तथा ईश्वर के प्रतिपूर्ण समपण का भाव मिलता है।[4] मीरां की दृष्टि मे सांसारिक सुख एव वभव निस्सार हैं यदि कोई सत्य है तो केवल गिरधर गोपाल हैं भवसागर से पार उतारने वाले खेवनहार हैं। मीरां का मानना था कि ईश्वर के प्रति पूर्ण समपण स ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। मीरां की भक्ति म किसी भी प्रकार के आडम्बरपूर्ण पूजा पाठ, रुढियो

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 516
2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास p 107-108
3 4 *Dr G N Sharma* Social Life in Medieval Rajasthan p 233

और बाह्य उपकरणों के लिए कोई स्थान न था। भक्ति का सरल मार्ग ही उन्होंने अपनाया। डा पेमाराम के अनुसार, 'मीरां की भक्ति की यह विशेषता थी कि इसमें ज्ञान पर इतना बल नहीं था जितना भावना और श्रद्धा पर। यही कारण है कि साधारण स्तर के व्यक्ति के लिए मीरां द्वारा प्रतिपादित मार्ग सुगम है।[1] मीरां की भक्ति भावना के विषय में डा गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है भगवान के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा रूढ़िगत धर्म पुस्तकों में प्रतिपादित धर्म तथा धर्मानुष्ठान और रीति रिवाजों पर आधारित धर्म के लिए एक क्रान्ति बनकर प्रकट हुई और इस अर्थ में वह नवयुग की अग्रदूत थी।[2]

मीरां के नाम से जो साहित्य उपलब्ध होता है वह निम्नांकित छः ग्रन्थ हैं—(1) मीरां पदावली, (2) नरसी जी रो मायरो (3) राग सोरठ (4) राग गोविन्द (5) सत्य भामाजी नू रूसण' और (6) गीत गोविन्द की टीका। इनमें गीत गोविन्द की टीका सत्य भामाजी नू रूसण व नरसी जी रो मायरो के रचयिता क्रमश राणा कुम्भा गुजराती कवि वल्लभ तथा रतना खाती को माना जाता है। अधिकांश विद्वान मीरां द्वारा रचित केवल 250 के लगभग पदों को ही मान्यता देते हैं।

मीरां की भक्ति सगुण थी अथवा निर्गुण इस सम्बन्ध में विवाद है। डा पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का मानना है कि मीरां नाथ पंथ से प्रभावित थी। डा शर्मा और व्यास के अनुसार 'मीरां के आराध्य देव के स्वरूप में कोई भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। मीरां का सम्पूर्ण प्रेम उसकी अशेष भक्ति से ही सगुणी लीलाधारी कृष्ण के प्रति निवेदित हुई है जिसका गिरधर नाम ही मीरां को सर्वाधिक प्रिय था।[3] मीरां ने अपने गिरधर गोपाल के सगुण स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

> बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
> मोहिनी मूरति साँवरी सूरति नैना बने विशाल।
> अधर सुधारस मुरलि राजति उर बैजन्ति माल।

अतः मीरां की सगुण भक्ति में सन्देह करना निरर्थक है।[4]

मीरा दासी सम्प्रदाय—अधिकांश लोगों की मान्यता है कि प्रेम रस में लीन मीरां को इस बात के लिए समय ही नहीं मिला कि वह कोई सम्प्रदाय स्थापित

1 डा पेमाराम मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन p 181
2 *Dr G N Sharma* Social Life in Medieval Rajasthan p 233
3 डॉ शर्मा एवं व्यास राजस्थान का इतिहास
4 मीरा पदावली

करती अथवा शिष्य बनाकर उन्ह भक्ति का उपदेश देती। इस सम्बन्ध मे एक दोहा प्रचलित है—

> नाम रहेगा काम स सुनो सयाना लोग।
> मीरां सुत जायो नही, शिष्य न मुडया कोय।[1]

इसके विपरीत एनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स म मीरां सम्प्रदाय के सम्बन्ध में लिखा हुआ है जिसके अन्तर्गत विशेष रूप से स्त्रियो में कृष्ण क बाल स्वरूप की आराधना पद्धति के प्रचलित होने की बात लिखी हुई ह। श्री विल्सन ने भी अपने ग्रन्थ मे इस सम्प्रदाय के विषय म लिखा है।[2] किन्तु यह सत्य नहा है। डा पेमाराम क अनुमार— यदि मीरां की कोई शिष्य परम्परा होती तो मीरां क समस्त पदो के सरक्षण का स्थायी साधन होता और मीरां के दर्शन की विस्तृत व्याख्याएँ और टीकाएँ हो गई होती। इतना ही स्वीकार किया जा सकता है कि मीरां ने राजस्थान के अनक राजकुमारा एव राजकुमारियो का भक्ति माग की ओर चलने की प्रेरणा दी। मीरां की भक्ति भावना का विधवा स्त्रियों पर विशेष प्रभाव पडा। विधवाए मीरां के समान ही कृष्ण से श्रद्धा व्यक्त करन लगी।'[3] डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार 'मीरां को पथ प्रदर्शिका स्वीकार करते हुए मीरां जस ही वस्त्र धारण करते हुए, कृष्ण के प्रति वसा ही माधुय सम्बन्ध रखने वाली ब्राह्मण एव अन्य जातियो की विधवा स्त्रियां मवाड मे आज भी विद्यमान हैं।[4]

मीरां का मूल्यांकन करते हुए बी एम दिवाकर ने लिखा है 'राजस्थान के भक्तो का मीरां एक नया भक्ति माग बता गई। इसी आधार पर वह इतिहास मे अमर हो गई और साहित्य की धराहर बन गई। उसके प्रभु प्रेम ने उसे अमर कर दिया वह राजस्थान की राधा बन गई।[5] डा मनारिया के शब्दो मे 'मीरां प्रेम और भक्ति की दीवानी थी आध्यात्मिक आकुलता भक्त हृदय का अटल विश्वास इनकी कविता म अपूर्व रूप म झकृत है। साहित्यिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो इनकी कविता कोई बहुत ऊची नही है परन्तु स्वाभाविक तथा भक्तिभावपूर्ण होन स एक भक्त हृदय का मुग्ध करने मे वह फिर भी अप्रतिम है। सूर सचमुच हिन्दी साहित्य क सूर हैं परन्तु मीरां के शब्दो म जो रस है मीठा सा दद है वह उनम नहीं आ पाया है।'

(6) सन्त रामचरण तथा रामस्नेही सम्प्रदाय (Saint Ram Charan and Ram Sanehi Sect)—डा गोपीनाथ शर्मा ने सन्त रामचरण व रामस्नेही सम्प्रदाय का परिचय देने हुए कहा है कि— रामचरणजी 18वी सदी के प्रमुख

1 मीरां पदावली
2 *Wilson H H* The Religious Sects of the Hindus
3–4 पूर्वोद्धत
5 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास

प्रबुद्ध सन्त थे जिन्होंने समाज और संस्कृति के घटते मूल्यों का उद्धार किया। उन्होंने प्रारम्भ से ही लोक कल्याणार्थ सत्य पथ के निर्देशन का बीड़ा उठाया और मेवाड के अंचल में शाहपुरा को कार्य क्षेत्र चुना। वहाँ रहते हुए उन्होंने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को 'अणभवाणी' के रूप में अवतरित कर लोक के लिए कल्याण के मार्ग को सुगम बना दिया। इनके द्वारा प्रतिपादित मार्ग रामस्नेही सम्प्रदाय कहलाता है। स्वामीजी के समय में ही इस सम्प्रदाय के सहस्त्रों अनुयायी बन गए। इन्होंने रामनाम के पावन मन्त्र का प्रचार किया और दूर दूर राम की महिमा का सन्देश भेजा। धीरे धीरे इनकी शिष्य परम्परा बढ़ती चली गई जिनके प्रयास से जगह जगह रामद्वारों की स्थापना हुई। इस पंथ में नैतिक आचरण सत्यनिष्ठा धार्मिक अनुष्ठान पर बल दिया जाता है चाहे वह रामद्वारे का साधु हो या गृहस्थी। रामचरण और उनके पीछे की गुरु परम्परा द्वारा रचित वाणियों का इस सम्प्रदाय में बड़ा महत्त्व दिया जाता है जिसको बड़े प्रेम से गाया जाता है और व्याख्या की जाती है। ये कृतियाँ ब्रजभाषा या राजस्थानी में होती हैं जो कि जन समुदाय को आकर्षित करती हैं और रोचक लगती हैं।[1]

जीवन परिचय—डा गुप्ता व डा ओझा ने सन्त रामचरण का जीवन परिचय देते हुए बतलाया है कि— मेवाड राज्य में रामस्नेही सम्प्रदाय का उद्भव एवं विकास मध्यकाल की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। डिग्गी तहसील के सोडा गाँव में शनिवार माघ शुक्ला चतुर्दशी विक्रम संवत् 1776 (1718 ई) को विजयवर्गीय वैश्य रामचरणजी जिनका बचपन का नाम रामकृष्ण या रामकिशन था जन्म हुआ। ये मालपुरा के पास बनवाडो गाँव के रहने वाले थे। सोडा तो इनका ननिहाल था। रामचरण के पिता का नाम बख्तराम तथा माता का नाम देउजी था। रामचरणजी शुरू से ही बड़े प्रतिभाशाली थे। अतः बताया जाता है कि जयपुर के नरेश ने इन्हें अपना मन्त्री भी बना दिया किन्तु किसी कारण से इन्होंने राज्य की नौकरी छोड़ दी। रामचरणजी के पिता का जब देहान्त हुआ उस समय उनकी आयु कोई 24 वर्ष के लगभग थी। तब इन्हें यह आभास हुआ कि संसार सरिता में वचन में केवल मात्र सद्गुरु ही सहायक हो सकता है। अतः ये अपने गुरु को ढूंढने निकल पड़े। ये घूमते हुए मेवाड के दाँतडा गाँव पहुँचे जहाँ गुरुवार भाद्रपद शुक्ल सप्तमी विक्रम संवत् 1808 को सन्त कृपारामजी के पास दीक्षित हुए। गुरु ने इन्हें 'राम नाम' का मूल मन्त्र दिया। तद्पश्चात् ये गूदड वेश में रहते हुए 7 वर्ष तक अपनी साधना में लीन हो गए। 1758 ई में वे जयपुर के निकट गलताजी के मेले में गए। जहाँ उन्हें साधुओं में व्याप्त अनाचार एवं बुराइयों का कटु अनुभव हुआ। फलतः रामचरणजी का मन फट गया और उन्हें निर्गुण भक्ति की अन्तःप्रेरणा हुई जिसमें उन्होंने मेवाड के भीलवाडा नगर में आकर कोई 10 वर्ष तक साधना की तथा अपने उपदेश देने प्रारम्भ किए। भीलवाड़ा के लोग

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास, पृ 110

दाद सगुणोपासक तथा मूर्तिपूजक थे अत उनके मूर्ति पूजा विरोधी विचारा का स्वागत नही हुआ।"[1]

अत इन्हे भीलवाडा छोडकर वहाँ से ढाई मील की दूरी पर स्थित कुहाडे' गाँव म आना पडा जहाँ लाग इनकी राम धुन सभाओ म सम्मिलित हान लगे। कुछ समय बाद शाहपुरा के शासक के निमन्त्रण पर वह शाहपुरा चल गए। शाहपुरा क शासक रणसिंह ने इनके रहने के लिए छतरी बना दी। यही रह कर राम भक्ति का प्रचार करते रहे तथा 1798 ई मे उनका स्वगवास हो गया। शाहपुरा म एक विशाल दरवाजा इनकी स्मृति मे बना हुआ है। इनके द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदाय 'रामस्नेही सम्प्रदाय कहलाता है। इनके 225 शिष्य थे जिनमें 12 मुख्य शिष्य कहलाए। इन्होने 'राम नाम के पवित्र मन्त्र का प्रचार किया। इनके अनुयायियो ने स्थान स्थान पर रामद्वारा की स्थापना की। रामद्वारा म रामस्नेही साधु रहते हैं और साधुओ म हिन्दू जाति क लोगो को ही दीक्षित किया जाता है। 'ये साधु गुलाबी रग की धोती और उपवस्त्र पहनते हैं तथा दाढी मूछ और सर क बाल नही रखते। इस मत के मानने वाले मूर्ति पूजा नही करते और राम-नाम के स्मरण को प्रधानता देते हैं। इस पथ म नैतिक आचरण, सत्यनिष्ठा, धार्मिक अनुशासन पर बल दिया जाता है चाहे वे रामद्वारे का साधु हो या गृहस्थी। शाकाहारी होना भी इनके लिए आवश्यक होता है। राम की उपासना दोना स्त्री और पुरुषा क लिए वांछनीय है पर एक स्थान म ये दोनो साथ रहकर अचना नही करत। अचना के कायक्रम की परिपाटी म मुसलमाना की पद्धति स कुछ साम्य दिखाई देती है।[2]

सन्त रामचरण के उपदेश व सामाजिक प्रभाव

रामस्नेही सम्प्रदाय के विषय म निम्न तथ्य उल्लेखनीय है[3]—

(1) ये निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना करत थे।

(2) इनके अनुयायी या चेले नगे पाँव भी रहते थे और कुछ नूबा लगाट, चादर, माला और पुस्तक धारण करते थे।

(3) ये आजीवन विवाह नही करत थे।

(4) चेला मूडत समय उसकी दाढी मूछ और सिर के बाल मुँडवा देत थे।

(5) गुरु का प्रथम चेला ही गुरु के बाद गद्दी पर बठता था।

(6) ये रामद्वारो म रहकर कथा बाँचते और हरिभजन आदि करते थे।

(7) मूर्तिपूजा और अन्धविश्वासा का विरोध करत थे।

रामचरण जी ने गुरु की महत्ता रामनाम के स्मरण तथा सत्सग पर

1 डा गुप्ता व डा ओझा राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण प 170 171
2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ 520.
3 बी एम दिवाकर राजस्थान का इतिहास पृ 485

अत्यधिक बल दिया।[1] रामचरण में सामाजिक सुधार की भावना भी थी। उन्होंने मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, बहुदेववाद, कन्या विक्रय, हिन्दू मुस्लिम भेदभाव, साधुओं का कपटाचरण आदि का विरोध किया।

रामचरण जी की अणभै वाणी से विदित होता है कि उन्होंने गुरु महिमा पर विशेष बल दिया है। उनका विश्वास था कि गुरु ब्रह्म है जो मानव को भव सागर से पार उतारता है। ये राम-नाम के स्मरण पर जोर देते थे। उनके उपदेश सामाजिक सुधार की प्रेरणा देते हैं। रामचरण जी हिन्दू मुस्लिम भेद भाव को सहन नहीं करते थे। ढोंगी साधुओं का वे विरोध करते थे। वे मादक द्रव्यों के सेवन व मांस भक्षण का निषेध करते थे। उनके द्वारा स्थापित रामस्नेही सम्प्रदाय में नैतिक आचरण सत्यनिष्ठा व धार्मिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। उनकी वाणी व उपदेश व्रज या राजस्थानी भाषा में थे जो जन साधारण को आकर्षित करते थे।

स्वामी रामचरण के 225 शिष्य थे जिनमें 12 शिष्य प्रधान थे। इन शिष्यों ने राजस्थान के अनेक नगरों और गाँवों में रामद्वारे स्थापित किए। इस शाखा का प्रचार राजस्थान के बाहर दिल्ली बम्बई बड़ौदा आगरा रतलाम आदि स्थानों में हुआ। इन रामद्वारों में जो साधु रहते हैं वे शाहपुरा को अपना मुख्य स्थान मानते हैं। राजस्थान में रामस्नेही सम्प्रदाय के तीन मुख्य केन्द्र हैं (1) शाहपुरा (भीलवाड़ा) (2) रैंढ़ाया (बीकानेर) और (3) रेण (नागौर)।

उपरोक्त सन्तों के अतिरिक्त भी राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल के अन्तर्गत निम्नांकित अन्य महापुरुष व उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय भी हुए हैं जिनका तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों में विशेष योगदान रहा है—

(7) हरिदास व निरंजनी सम्प्रदाय—निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदास का जन्म 1452 ई. में डीडवाना परगने के कापडोद गाँव में एक सांखला क्षत्रिय परिवार में हुआ था। विवाह के पश्चात् वे डकैती जैसे दुष्कर्म में प्रवृत्त हुए थे किन्तु एक महात्मा के सदुपदेश से ये आत्म चिन्तन में लीन हो गए। हरिदास की शिष्य परम्परा निरंजनी सम्प्रदाय कहलाई। इनकी मृत्यु 1543 ई. में हुई। निरंजन शब्द परमात्मा तत्व का प्रतीक है। इस सम्प्रदाय में विरक्तों को निहंग व गृहस्थों को घरबारी कहते हैं। निहंग खाकी रंग की गूदड़ी या सेली गले में डालते हैं पात्र रखते हैं व भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करते हैं।

(8) जसनाथी सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक सिद्ध जसनाथ हुए जिनका जन्म वि. सं. 1539 में बीकानेर के कातरियासर गाँव में हुआ। हमीरजी को यह बालक डाबला तालाब पर मिला जिसका पालन पोषण उन्होंने व उनकी पत्नी रूपादे ने किया। वि. सं. 1551 में गुरु गोरखनाथ ने उन्हें दीक्षा देकर उनका नाम जसनाथ रखा। वि. सं. 1563 में उन्होंने कातरियासर में

1 रामचरण की अणभैवाणी p 66-67

समाधि ल ली। इनके जसनाथी सम्प्रदाय म निगु रा व सगुरा दोना प्रकार की भक्ति को माना जाता है तथा योगी की साधना के चार अग—सयत जीवन सद्व्यवहार, सद्गुरु के प्रति निष्ठा और विवेकपूरा आदश बतलाए हैं। इसम 36 नियमा का पालन किया जाता है। जसनाथ की रचनाए सिभूधडा व कोडों प्रसिद्ध हैं। इस सम्प्रदाय म पवित्र जीवन पर विशेष बल दिया जाता है।

(9) सन्त दरियावजी—इनका ज म 1676 ई म जतारण म हुआ। डा मनारिया इन्हें हि दू किन्तु डा पमाराम मुसलमान मानते हैं। पिता की मृत्यु क बाद म अपनी माता के साथ रण' नाना के घर आ गए जहाँ स व काशी स आए एक पण्डित स्वरूपानन्द के साथ काशी चल गए। इनकी शिष्य परम्परा म गुरु भक्ति व सत्सग पर बल दिया जाता है। रामनाम स्मरण का साधना का अग माना जाता है।

उपरात्त सन्ता व सम्प्रदायो के अतिरिक्त सन्त हरिरामदास सन्त रामदास, लालदास चरणदास आदि सन्ता न भी राजस्थान के मध्यकाल म धार्मिक सुधार आदोलन म अपना योगदान दिया।

धार्मिक आन्दालन मे मन्दिरों की भूमिका
(The Role of Temples in Religious Movement)

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल म धार्मिक आन्दोलन के प्रवत्तक विभिन्न सन्ता एव उनस सम्बद्ध मन्दिरो व उपासना गृहा न उनके अनुयाइयो के एकत्रित होन व अपन सम्प्रदाय क प्रचार व प्रसार म महती भूमिका निभाई है। इन सन्ता की स्मृति म स्थापित उनके सम्प्रदाया के मन्दिर या साधना के केन्द्रीय स्थला पर मला, उत्सवा एव समाराहा के अवसरा पर एकत्रित उनक अनुयाइया एव जन साधारण म आज भी अपूव उत्साह एव भक्ति भावना के दशन हाते हैं। इन मन्दिरों पर सभी सम्प्रदायो व जातियो के लाग एकत्रित हाकर सामाजिक एकता एव सांस्कृतिक समन्वय का परिचय देत हैं। एसे मन्दिर न केवल धम अपितु समाज सुधार के भी अनुपम स्रोत रह है। तत्कालीन धार्मिक आन्दोलना म उनकी भूमिका महत्त्वपूरा रही है।

उदाहरणाथ लाक देवता एव देवी के रूप मे पूजित तत्कालीन सन्ता व देवियो मे करणी जी का मन्दिर देशनोक (बीकानेर के निकट) म, गागाजी की गोगामडी (गगानगर जिल की भादरा तहसील म स्थित) तेजाजी के मृत्यु स्थल सुरसूरा (किशनगढ) का मन्दिर पाबूजी मन्दिर कोलू गाँव मे, देवजी का मन्दिर देहमाली (ब्यावर के निकट) म मल्लीनाथ जी का मन्दिर तिलवाड़ा म रामदेवजी का मन्दिर रूणेचा (पोकरण) म हरभूजी का मन्दिर बेंगुटी (जोधपुर जिले म), सन्त धन्ना का ज म स्थल धुवन (टोंक जिल म) सन्त पीपा की छतरी गागरोन म जाम्भाजी का मन्दिर तालवा गाँव मे मीरा बाई का कृष्ण मन्दिर चित्तौड दुग मे, दादूजी के दादू पथ की गद्दी नारायणा कस्बे म तथा रामचरणजी क रामस्नेही सम्प्रदाय की गद्दी शाहपुरा रामद्वारे म ऐसे मन्दिर व उपासना स्थल हैं जिनका

महत्त्व राजस्थान मे धार्मिक आन्दोलन से सम्बद्ध संतो के विचारो एव सिद्धान्तो के प्रचार व प्रसार म बहुमूल्य रहा है। इसस सामाजिक एव धार्मिक सुधार की प्रेरणा एव सांस्कृतिक समन्वय के लिए प्रोत्साहन मिलता है। इन मन्दिरो से न केवल हिन्दू सन्तो की स्मृति ही जीवित रहती है अपितु राजस्थान म कुछ सूफी सन्तो की दरगाहो से मुस्लिम धर्म सुधारको के सदेश भी जन साधारण तक पहुँचते हैं। इनमे अजमेर स्थित सूफी सन्त शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह प्रमुख एव विश्व विख्यात है।

डा गोपीनाथ शर्मा ने इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि—"इस साम्प्रदायिक एकता और सांस्कृतिक अविच्छिन्नता का स्वरूप मध्यकालीन समन्वयपरक प्रयासो म भी मिलता है जब सन्तो के अथक परिश्रम से जाति भेद कर्मकाण्ड के पचडे धर्माचार्यों के विशेष अधिकार का अँधेरा समाप्त होता है और नैतिक आचरण सदाचार, भक्ति, साधना आदि का प्रकाश देदीप्यमान होता है।"[1]

---

1 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास पृ 111

KEXAMS

12 कला एव स्थापत्य का विकास
(Development of Art and Architecture)

सांस्कृतिक विकास की परम्परा—कला एव स्थापत्य का विकास सांस्कृतिक विकास का अभिन्न अग है। राजस्थान म कला एव स्थापत्य के विकास की एक सुदीघ परम्परा रही है। राजस्थान के इतिहास के मध्यकालीन अध्ययन काल म सांस्कृतिक समन्वय के कारण इस परम्परा को तीव्र गति मिली और उसकी अभूतपूव उन्नति हुई। डा जयसिंह नीरज व डा बी एल शर्मा द्वारा सम्पादित एक लेख म डॉ गोपीनाथ शर्मा ने इस काल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि मे कला व स्थापत्य के सम्बन्ध म कहा है कि— पूव मध्यकाल के पहिले राजस्थान म अनेक वशों की शक्ति का उदय हो गया था जिनम गुहिल राठौड चौहान, भाटी कुशवाह आदि मुख्य थ। इन्होने तुर्को द्वारा की गई विध्वसात्मक क्षति को सुधारने और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का बीडा उठाया। इस काल के कई राजवशो नरेन्द्र स्वय विद्वान तथा कला प्रेमी थ। इन्होन अपने अपने राज्यो म अच्छे शिल्पियो विद्वानो और धम धुर धरो के आश्रय के लिए सम्पूर्ण राजस्थान के क्षेत्र को सांस्कृतिक केन्द्र बनाया। वास्तु नत्य गान साहित्य और भक्ति की विधाओ को नव जीवन प्रदान किया। इसी काल म भव्य राजप्रासाद सु दर म दिर व स्तम्भो का निर्माण कराया गया। उदयपुर जयपुर, जोधपुर बीकानेर आदि राज्यो म किले और राजप्रासादो का निर्माण कराया गया। वास्तु एव अलकरण की दृष्टि स इनका वस्तु स्थानीय है। यदि इनम मुगली प्रभाव है तो वह ऊपरी है, जिसका सुविधा की दृष्टि स स्थान दिया गया है। महाराणा कुम्भा के समय के बने किले हो या मन्दिर या स्तम्भ उनमे शौय, शक्ति धय और गांभीय के दिखावा की प्रधानता है।

इसी प्रकार मूर्तिकला और चित्रकला म कलाकारो ने स्वाभाविकता और सौन्दय का समन्वय किया है कि जिनको देखकर लोकोत्तर आन द का अनुभव होता है। शृगाररत और स्नान निवृत्त या दपण मे मुख निहारती नारी मूर्तियाँ ऐसी तराशी गई हैं कि उनका आत्मस्थ सौन्दय और आन्तरिक सुकुमार भावना एक

डॉ तारा मगल के शब्दों मे—'इस काल की तक्षण कला में दो विशेषताएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। पहली विशेषता तो यह है कि इस युग में नारी प्रतिमाओं में अत्यन्त बारीकी प्रदर्शित है। साथ ही नारी को विभिन्न मुद्राओं में दिखाया गया है। इसमें कहीं नायिका को घुंघरू धारण करते हुए, कहीं शृङ्गार करते हुए, कहीं दर्पण देखते हुए आदि विविध नायिका सुलभ रूपों में प्रदर्शित किया गया है। नारी की मांसल आकृतियों को यहाँ प्राथमिकता प्राप्त है। महसूरणा पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी दर्शनीय है। यहाँ इस्लाम प्रभाव का भी आभास होता है। शिल्पकार गुजराती थे अत उन्होंने अपनी प्रादेशिक परम्पराओं को भी इसमें समाविष्ट करते हुए बेल बूटा आदि का अकन खुलकर किया है। जो प्राय गुजरात की तत्कालीन मस्जिदों में प्राप्त होते हैं। अत फर्ग्युसन महोदय ने स्थानीय शिल्प की तुलना अहमदाबाद की मस्जिदों से की है।[1]

अध्ययन काल में निर्मित इन मन्दिरों व अन्य मंदिरों के स्थापत्य की विशेषता से सम्बंधित डॉ गोपीनाथ शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है—'एक नया मार्ग दिया। जो शक्ति विकास और सगठन की भावना राज्यों के संस्थापन में आवश्यक थी वह भावना स्थापत्य में भी प्रस्फुटित हुई। इस काल में बनने वाले मंदिरों में चाहे वे विष्णु के हों अथवा शिव के शक्ति के हों या सूर्य के, बल और शौर्य का उन्मीलन प्रगाढ रूप से दिखाई देता है। एकलिंगजी के प्ररणवासिनी के मन्दिर कुण्डाग्राम के कटभ रिपु के मंदिर चित्तौड के सूर्य मन्दिर आम्बानेरी के हर्षमाता के मंदिर में भागवत एकत्व और शौर्य का मिलन स्पष्ट है। ये ही तत्व आहड के आदिवराह मन्दिर और जगत् के अम्बिका के मन्दिर में उभरते हैं।[2]

(2) दुर्ग स्थापत्य

दुर्ग स्थापत्य की परम्परा हमारे देश में अत्यन्त प्राचीनकाल से रही है। इसके निर्माण में स्थान विशेष की सामरिक स्थिति को ही मुख्य रूप से ध्यान में रखा जाता था।

राजस्थान के शासकों ने भी इस परम्परा का निर्वाह करते हुए दुर्गों का निर्माण किया। राजस्थान शूरवीर राजपूतों की भूमि रहा है। अत यहाँ दुर्ग बहुत बडी संख्या में बनाए गए। दुर्गों के सम्बन्ध मे राजस्थान की तुलना महाराष्ट्र से की जा सकती है। राजस्थान में इतने अधिक दुर्ग बनवाए गए कि लगभग 11—12 मील की दूरी पर एक दुर्ग देखने को मिल जाएगा। राजस्थानी लेखकों मण्डन और सदाशिव ने दुर्ग को राज्य का अनिवार्य अंग बताया है। डा गोपीनाथ शर्मा ने दुर्ग बनाए जाने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है— चाहे राजा हो या सामन्त वह दुर्ग को अपनी निधि के रूप में समझता था। राजा अपने निवास के लिए सामग्री संग्रह के लिए और सम्पत्ति छिपाने के लिए किले बनाते

1 डॉ तारा मगल महाराणा कुम्भा और उनका काल पृ 173
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास p 149

थे।" राजा रावदेवी जागीरदारों ने भी दुर्ग बनवाए क्योंकि उस समय दुर्ग का अधिकार में होना प्रतिष्ठा की बात समझी जाती थी। यहाँ तक कि सामन्त या जागीरदार की शक्ति का आकलन उसके अधिकार वाले दुर्गों के आधार पर किया जाता था।'[1]

राजस्थान में दुर्गों के सर्वप्रथम प्रमाण कालीबंगा की खुदाई में मिले हैं। कालीबंगा, सिन्धु सभ्यता के क्षेत्र के अन्तर्गत आता था। मौर्य एवं गुप्तकाल में राजस्थान में दुर्गों के निर्माण के विषय में हम निश्चित और महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। चित्तौड़गढ़ का प्रसिद्ध दुर्ग मौर्यकाल में ही बनवाया गया था। मुस्लिम आक्रमणों के बाद दुर्ग कला में जो परिवर्तन आया और जिस प्रकार के दुर्गों का निर्माण हुआ उस पर प्रकाश डालते हुए डा. कालूराम शर्मा लिखते हैं—"उत्तरी भारत पर मुसलमानों के आक्रमण तथा भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के बाद दुर्ग निर्माण कला में एक नया परिवर्तन आ जाता है। अब ऊंची ऊंची पहाड़ियों पर, जो ऊपर से चौड़ी होती थी और जहां खेती और सिंचाई के साधन उपलब्ध थे, को दुर्ग निर्माण के लिए अधिक पसन्द किया जाने लगा। यदि ऐसी पहाड़ियों पर पहले से दुर्ग बने हुए थे तो उन दुर्गों को भी नया रूप देकर उन्हें अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया। चित्तौड़गढ़, कुम्भलगढ़ माण्डलगढ़ आदि दुर्गों का निर्माण या कायाकल्प इसी शैली के आधार पर किया गया था। उदाहरणार्थ महाराणा कुम्भा ने चित्तौड़ के दुर्ग को सुदृढ़ प्राचीरों, प्रवेश द्वारों तथा बुर्जों का निर्माण करके अधिक सुदृढ़ बनवाया था। इसी प्रकार उसने कुम्भलगढ़ का सुदृढ़ किला बनवाया। जोधपुर के दुर्ग पर प्राकृतिक जलाशय न होने के कारण विशाल टंकियाँ बनवाई गई जिसमें वर्षा का जल एकत्र किया जाता था और रसद आदि के संग्रह के लिए बड़े बड़े गोदाम बनवाए गए ताकि दुर्ग की घेराबन्दी के समय भूख मरने की नौबत न आए। नागौर जालौर और रणथम्भौर के दुर्गों में भी समय समय पर कई प्रकार के परिवर्तन किए गए।"[2]

राजस्थान के मध्यकाल में निर्मित दुर्गों के प्रमुख उदाहरण निम्नांकित हैं—

(1) चित्तौड़ दुर्ग—राघवेन्द्रसिंह मनोहर के शब्दों में—'गिरि दुर्गों में चित्तौड़ का किला सबसे प्राचीन और प्रमुख है। वस्तुतः चित्तौड़ का यह किला जहाँ इतिहास के तीन प्रसिद्ध साके हुए सब किलों का सिरमौर है। जिसके लिए लोक में यह उक्ति प्रचलित है—'गढ़ तो चित्तौड़गढ़ बाकी सब गढ़ैया' जो इसकी देशव्यापी ख्याति का प्रमाण है। वीर क्षत्रिय योद्धाओं के बलिदान और राजपूत ललनाओं के जौहर के साक्षी चित्तौड़ के किले की विशेषता है घुमावदार प्राचीरें उन्नत और विशाल बुर्जें तथा विशाल पर्वत की घाटी के कारण सँकरा मार्ग जिसने इस किले को सामरिक दृष्टि से अजेय दुर्ग बना दिया था। अकबर की शक्तिशाली

1 डा. गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास पृ. 545
2 डा. कालूराम शर्मा राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण, p. 276

सेना भी तीन माह से अधिक चलने वाले घेरे के बाद ही चित्तौड के किले पर अधिकार कर सकी थी।[1]

(ii) कुम्भलगढ दुर्ग—डा गुप्ता व डा ओझा के अनुसार कुम्भलगढ का स्थापत्य इस प्रकार है— यह किला सर्वाधिक सुरक्षित किलों मे एक है। छोटी बडी पहाडियो से मिलकर बना कुम्भलगढ का किला घाटियो एव बीहड जगलो से घिरा होने के कारण एकाएक नजर नही आता है। इस प्राचीन किले का नवीन परिवर्तित स्वरूप प्रदान करने वाला कुम्भा था। 1458 ई मे कुम्भा ने अपने प्रसिद्ध शिल्पी मण्डन के नेतृत्व मे इसे निर्मित करवाया था। इसे कुम्भलमेर या कुम्भलमेरु भी कहते हैं।

यह मजबूत एव दुर्गम किला नाथद्वारा से करीब 25 मील उत्तर मे स्थित है। यह समुद्री सतह से करीब 3568 फुट ऊँचा है। इसकी लम्बाई 2 मील है तथा इस पर चढने के लिए दरवाजो से युक्त गोल घुमावदार रास्ता है। केलवाडा नामक कस्बे से पश्चिम की तरफ पहाडी नाले मे होकर एक नग टेढे मेढे रास्ते को पार करते हुए कोई 700 फुट की ऊचाई पर किले का प्रथम दरवाजा आरेठपाल आता है। तीसरा दरवाजा हनुमानपोल है। यह किले का प्रमुख द्वार है। इसके बाहर कुम्भा द्वारा माण्डव्यपुर से लाई गई हनुमान की मूर्ति लगी हुई है जो उसके माण्डव्यपुर विजय को प्रमाणित करती है। किले के चारो ओर सुन्दर एव चौडी प्राचीर बनी हुई है जिस पर बुर्जे भी दिखाई देती हैं। दीवारो के नीचे खाइयाँ व खड्डे बने हुए है। विजयपोल के बाद जो समतल भूमि आ गई है उस पर बने स्थापत्य कला के नमूने देखते ही बनते हैं। यहाँ पर नीलकण्ठ महादेव का एक मन्दिर है जिसके चारो तरफ 8 फुट ऊचे प्रस्तर स्तम्भो का एक सुन्दर बरामदा बना हुआ है। कर्नल टाड ने इसे यूनानी मन्दिर मान लिया किन्तु डा ओझा ने बताया है कि इसमे ग्रीक शैली का कुछ भी काम नही है और न यह उतना पुराना ही कहा जा सकता है।[2] डा जी एन शर्मा के अनुसार यह साधारण रूप की नगर शैली है।' अत इसे यूनानी कदापि नही कहा जा सकता है। यहाँ करीब 5 फुट ऊँचा दीर्घाकार शिवलिंग है जिसकी खण्डित अवस्था से ऐसा लगता है कि आक्रमणकारियो ने खण्डित किया होगा।[3]

कुम्भलगढ दुर्ग मे अन्य उल्लेखनीय स्थापत्य की वस्तुओ मे कुम्भा द्वारा निर्मित वेदी है जो दो मजिला भवन है जिसमे यज्ञ के धुआ निकलने की व्यवस्था उसके गुंबद के नीचे है। दुर्ग मे निर्मित जैन मन्दिर, झाली बाव व नामदेव के

1 डॉ जयसिंह नीरज व डॉ भगवती लाल शर्मा (स) राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा p 49

2 डा ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास

3 डॉ के एस गुप्ता व डा जे के ओझा राजस्थान का इतिहास–एक सर्वेक्षण p 128 129

कुण्ड, विष्णु मंदिर, रायमल के पुत्र पृथ्वीराज का स्मारक (छत्री) अचलेश्वर महादेव का मंदिर कुम्भ स्वामी का मंदिर आदि दर्शनीय हैं जो तत्कालीन स्थापत्य कला का परिचय देते हैं। डा गोपीनाथ शर्मा ने इस दुर्ग की सामरिक उपयोगिता का उल्लेख करते हुए कहा है कि—'राणा कुम्भा ने कुम्भलगढ़ के किले को पहाड़ी श्रृंखलाओं से घेरे हुए स्थान में सुरक्षित किया। किले के भीतर ऊंचे भाग का प्रयोग राजप्रासाद के लिए तथा नीचे से नीचे भाग को जलाशयों के लिए और समतल भाग को खेती के लिए रखा गया। बची हुई भूमि का उपयोग मंदिरों तथा मकानों के निर्माण में किया गया। किले के चारों ओर दीवारें चौड़ी और बड़े आकार की बनाई गई जिन पर कई घोड़े एक साथ चल सकते थे। प्राकार की दीवार का ढाल इस तरह रखा गया कि उस पर सरलता से चढ़ना कठिन था। कहीं कहीं दीवारों के नीचे गहरे पहाड़ी गड्ढे ऐसी स्थिति में रख गए कि हमलावर फौजों का दुर्ग में घुसना कठिन था।[1]

(iii) रणथम्भौर दुर्ग—राघवेन्द्रसिंह मनोहर के अनुसार—राजस्थान के गिरि दुर्गों में प्रमुख तथा हम्मीर की आन का प्रतीक रणथम्भौर अरावली पर्वतमाला की श्रृंखलाओं से घिरा एक विकट दुर्ग है। नीहड़ वन और दुर्गम घाटियों के मध्य अवस्थित यह दुर्ग बीते जमाने में भारत के गिरि दुर्गों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। रणथम्भौर दुर्ग के स्थापत्य की विलक्षण बात यह है कि एक उत्तुंग और विशाल पर्वत शिखर पर स्थित होकर भी यह किला दूर से दिखाई नहीं पड़ता जबकि इसके ऊपर से शत्रु सेना आसानी से देखी जा सकती है।[2]

(iv) तारागढ़ दुर्ग—डा गुप्ता व डा ओझा के शब्दों में—अरावली पर्वत श्रेणियों का ही एक हिस्सा अजमेर में तारागढ़ या गढ़ बीठली के नाम से प्रसिद्ध है। बताया जाता है कि अजयपाल ने इस किले का निर्माण कराया। अतः इसे अजयमेरू कहा जाता था। महाराणा रायमल के पुत्र पृथ्वीराज ने इस पर कुछ महल आदि बनवा कर अपनी पत्नी ताराबाई के नाम पर तारागढ़ नामकरण कर दिया। प्राचीर की दीवारें काफी बड़े एवं भारी पत्थरों से बनी हुई हैं तथा आधार पर 20 फुट मोटी हैं। किले की दीवार में 14 बुर्जें हैं। किले पर हजरत मीरानसाहब की दरगाह, बरामदा, आंगन, मस्जिद, बुलन्द दरवाजा, गंज ए शहीदां आदि 16वीं शताब्दी की स्थापत्य कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। बरसाती पानी का प्रायः कुण्डों में एकत्र कर दिया जाता था जिन्हें झालरा कहते थे जैसे—नाना झालरा, बड़ा झालरा आदि।[3]

(v) सिवाणा व जालौर दुर्ग—डा नीरज व डॉ शर्मा ने इस दुर्ग की स्थापत्य कला का वर्णन करते हुए कहा है कि—गिरि दुर्गों में सिवाणा के किले

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 546-47
2 डॉ नीरज व डॉ शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा, p 49
3 डॉ गुप्ता व डॉ ओझा पूर्वोद्धृत p 130

का अपना महत्त्व है। इस किले के साथ चौहान वीर सातम साम और राठौड़ वीर वल्लाराय मलोत की शौर्य गाथाएँ जुड़ी हैं। इस आशय का एक दोहा है—

'किला अणखलो यू कहे आय कला राठौड़।
मा सिर उतरे महगा, ता सिर बांधे मोड़॥

पश्चिमी राजस्थान में गिरि दुर्गों में जालोर का दुर्ग प्रमुख है जो सुदृढ़ बुर्जों और विशाल परकोटे से युक्त है। शत्रु के अनेक आक्रमणों को विफल करने वाले इस किले के साथ वीर कान्हड़दे सोनगरा के उद्भट पराक्रम का आख्यान जुड़ा हुआ है जिसने अलाउद्दीन खिलजी की सेना से लड़ते हुए वीरगति पाई।[1]

उपरोक्त दुर्गों के अतिरिक्त राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास में प्रमुख भूमिका निभाने वाले तत्कालीन दुर्ग स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करने वाले दुर्गों में आमेर, गागरोन, शेरगढ़, बूंदी, जैसलमेर, आबू स्थित अचलगढ़ आदि प्रमुख हैं।

(3) राजप्रासाद (महल) (Palaces)

मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद राजभवनों में सजावट पर जोर दिया जाने लगा। डा. कालूराम शर्मा ने राजप्रासाद की योजना पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, राजमहलों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जाता था, जिन्हें जनानी ड्योढ़ी और मर्दानी ड्योढ़ी के नाम से पुकारा जाता था। दोनों भागों को एक सुगम मार्ग से जोड़ दिया जाता था। मर्दानी ड्योढ़ी में दरबार लगाने, आम जनता एवं दरबारियों से मिलने, मन्दिर, कार्यालय, राजकुमारों के प्रकोष्ठ आदि की व्यवस्था रहती थी। जनानी ड्योढ़ी में महिलाओं तथा रसोड़े आदि की व्यवस्था रहती थी। परन्तु राजप्रासाद के इन सभी भागों को जोड़कर एक पूर्ण इकाई का रूप प्रदान किया जाता था। मुगलों के सम्पर्क में आने के बाद बने राजप्रासादों में भव्यता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। फव्वारे, उद्यान, पतले खम्भे, बेल बूटे, सगमरमर का प्रयोग, बारीक खुदाई, अलंकृत छज्जे, गवाक्ष आदि राजप्रासादों की विशेषताएं बन गये। मुगल शैली से प्रभावित राजभवनों में उदयपुर में अमरसिंह के महल, जगनिवास, जगमन्दिर, आमेर व जयपुर के दीवानखास, दीवान आम, जोधपुर के फूल महल, बीकानेर के रंगमहल, कर्णमहल, शीशमहल, अनूपमहल, डीग के गोपाल भवन आदि मुख्य हैं। मुगल प्रभाव 17वीं सदी के बाद बनने वाले महलों में अधिक दिखाई देता है। किन्तु यह प्रभाव राजाओं एवं सामन्तों के भवनों तक सीमित था। आम जनता के भवन इस प्रभाव से अछूते थे।

राजप्रासादों के सन्दर्भ में आमेर के राजभवनों का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। मानसिंह के समय में आमेर के महलों का निर्माण कार्य प्रारम्भ हुआ था, जो मिर्जा राजा जयसिंह प्रथम के शासनकाल में सम्पूर्ण हुआ। इन महलों की भवन निर्माण शैली ग्वालियर के राजभवनों के समान है जो हिन्दू शैली पर आधारित है। लेकिन इस पर मुगल शैली का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई

1 पूर्वोक्त पृ 49 50

दता है। शीवार ग्राम और उसके गुम्बद मुगल ढग के हैं। इन राजभवनो के विषय म एक लेखक ने लिखा है 'दीवाने ग्राम के साथ मानसिंह ने पहाड़ी की चोटी पर एक महल का निर्माण करवाया था जिसका प्रतिबिम्ब धरातल स्थित झील म दिखाई देता है। इसकी छत लम्बाग्र शैली की है, जो राजपूताने मे प्रचलित शैली है। महल म प्रकोष्ठ बने हुए है जिनम ग्रजमेर दिल्ली रोड की झाँकी देखी जा सकती है। राजा मानसिंह का निजी महल दोहरे तिबारे का बना हुआ है। यह सरल शैली का महल है। ग्रामेर के अतिरिक्त वृन्दावन, बनारस ग्रादि स्थानो पर भी राजा मानसिंह ने मन्दिरो और महलो का निर्माण करवाया था। कहने का तात्पर्य यह है कि राजा मानसिंह के शासन काल मे स्थापत्य का बहुमुखी विकास हुआ व ग्रामेर के महल स्थापत्यकला के राजाप्रासादो के उदाहरणो म अपना निजी विशिष्ट महत्त्व रखते है।"

(4) नगर नियोजन (Town Plann ng)

राजस्थान म नगर निर्माण का स्थापत्य प्राचीन ग्रथो पर ग्राधारित था जिनम महाभारत कामसूत्र शुक्रनीति अपराजितप्रेच्छ ग्रादि उल्लेखनीय है। इन ग्रथो के ग्राधार पर नगर म मन्दिर महल भवन धन्धे के ग्राधार पर बस्तियाँ बसाना नगर की सुरक्षार्थ खाइयाँ परकोटा बनाना जलाशय एव वापिकाएँ बनाना सड़को की व्यवस्था ग्रादि का जाती थी। इस दृष्टि से देलवाडा इगोद कस्बे उल्लेखनीय हैं। पहाडियो के अचल म जगल की सामीप्यता की दृष्टि से सुरक्षार्थ बसाए गए नगरो म ग्रामेर वृन्दा, अजमेर एव उदयपुर के नाम प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते हैं।[1]

कछवाहो की राजधानी ग्रामेर को विशेष दृष्टिकोण स बसाया गया था। 'शानो ग्रार की पहाडियो की ढाल म नर्वनियाँ तथा ऊचे ऊँचे भवन बनवाए गए थे और नीचे के समतल भाग मे पानी के कुण्ड मन्दिर सडकें बाजार ग्रादि थे। पहाडी नाको को सकरा रखा गया था जिसका उपयोग सुरक्षा से सम्बन्धित था। ऊची पहाडी पर राजभवनों का निर्माण कराया गया था।[2] कछवाहो का 1562 ई म मुगलो म मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गया जिसस जयपुर राज्य पर मुगल ग्राक्रमण का भय समाप्त हो गया। ग्रब अन्य शासक भी जयपुर राज्य पर ग्राक्रमण करन का साहस नही कर सकते थे। ऐसी स्थिति म जयपुर नगर को खुले मदानी भाग म बसाया गया। जयपुर नगर मे हिन्दू स्थापत्यकला एव मुगल स्थापत्यकला का श्रेष्ठ समन्वय हुआ। जयपुर को मैदानी भाग म बसाकर भी सुरक्षा की उपेक्षा नही की गई थी। निकट की पहाडी पर नाहरगढ दुर्ग का निर्माण किया गया जो एक सजग प्रहरी की भाँति जयपुर पर दृष्टि रखता था। वी एल पानगडिया ने जयपुर नगर के विषय म लिखा है— "नगर निर्माण शैली की दृष्टि स राजस्थान की राजधानी जयपुर ग्राज भी सारे देश म बेजोड है। जयपुर की नींव सन् 1727

1 डा गुप्ता एव डा ओझा राजस्थान का राजनीतिक एव सांस्कृतिक इतिहास प 46
2 डा गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का इतिहास p 538-39

ई मे महाराजा सवाई जयसिंह ने रखी थी। इसका निर्माण सुप्रसिद्ध नियोजक और वास्तुविद विद्याधर चक्रवर्ती की देखरेख मे हुआ था। योजना के अनुसार बसाया गया उस समय भारत का यह एकमात्र नगर था। नगर का स्वरूप निर्माण की मापकीय प्रणाली और वास्तुकला के अभोत्थान नियन्त्रण के आधार पर बनाया गया है। नगर के सब भाग एकदम सीधे और एक दूसरे को काटते हुए समकोण बनाते हैं। नगर की मुख्य सडक पूर्व से पश्चिम की ओर जाती है। उसे तीन सडके विभाजित करती हैं। विभाजन का स्थान चौपड कहलाता है। नगर नौ चौकडियो मे विभक्त है। नगर निर्माण मे सामरिक सुरक्षा जल उपलब्धि बरसाती पानी का निकास और भावी विकास की सम्भावनाओ का पूरा ध्यान रखा गया है।[1] नगर मे हवामहल रामनिवास बाग जन्तर मन्तर एव म्यूजियम नगर की शोभा मे चार चाँद लगाते हैं।

इसी प्रकार जसलमेर जोधपुर, बूदी, अजमेर उदयपुर आदि नगरो के निर्माण की योजना भी एतिहासिक ग्रथो से विदित होती है। नगर योजना एव निश्चित नगर स्थापत्य शास्त्र के आधार पर निर्मित थी।

(5) स्तम्भ (Pillars) एव स्मारक (Memorials)

कीर्ति स्तम्भ—अशोक के स्तम्भ तथा दिल्ली की कुतुबमीनार जिस प्रकार भारत की स्तम्भ स्थापत्य कला के प्रतीक हैं वसे ही राजस्थान मे चित्तौड दुर्ग मे राणा कुम्भा द्वारा कीर्ति स्तम्भ भी अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। राणा कुम्भा ने मालवा के सुल्तान मोहम्मद को पराजित कर अपनी विजय की स्मृति मे इसे 1497 से 1517 वि स के मध्य बनवाया था। इस स्तम्भ का आधार 12 फीट ऊचा और 42 फीट लम्बा व चौडा चबूतरा है। पृथ्वी से यह स्तम्भ 122 फीट ऊचा है। इसकी चौडाई 30 फीट व इसम 9 मजिले हैं। इसम अन्दर से ऊपर तक सीढियाँ बनी है तथा प्रत्यक मजिल पर चारो दिशाओ मे झरोके बने हुए हैं। इसमे पाँच शिलालेख भी उत्कीर्ण हैं। सम्पूर्ण स्तम्भ मे देवी देवताओ की मूर्तियाँ स्थापित हैं। गौरीशकर हीराचन्द ओझा ने इसीलिय कहा है कि 'कीर्ति स्तम्भ को हिन्दू देवी देवताओ से सजाया हुआ एक व्यवस्थित सग्रहालय या पौराणिक देवताओ का अमूल्य कोष कह दें तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।[2]

डा गोपीनाथ शर्मा के शब्दो मे यदि हम मूर्तिकला तथा स्थापत्य कला का सामजस्य कही देखना चाहे तो कीर्ति स्तम्भ मे बडे सन्तुलन के साथ मिलता है। इसमे हम कलाकृतियो को मूर्तरूप देने का सफल प्रयास दिखाई देता है।[3] फर्गुसन ने कहा है कि रोम के ट्राजन स्तम्भ की अपेक्षा इसका कलात्मक स्थापत्य और रुचि की अभिव्यक्ति मे अधिक अच्छा पाया जाता है।[4] टाड के शब्दो मे इसका तुलना

1 वी एल पानगडिया राजस्थान का इतिहास p 347–48
2 डा गौरीशकर हीराचन्द ओझा उदयपुर राज्य का इतिहास भाग–1 p 51
3 पूर्वोद्धत पृ 595
4 *Fergusson* History of India and Eastern Architecture p 253

केवल मिनो की कुतुबमीनार से की जा सकती है किन्तु वह इससे ऊँची होते हुए भी निकृष्ट कोटि की है।'[1]

स्मारक—राजस्थान में स्मारकों के रूप में बनाए गए भवन समाधियाँ छतरियाँ सती स्मारक देवल मकबरे दरगाह आदि हैं।

राजस्थान शूरवीरों की भूमि है। अपनी जन्म भूमि के लिए लड़ने वालों की पावन स्मृति को समाधियों अथवा छतरियों के माध्यम से जीवित रखा गया है। सती महिलाओं को सती स्मारकों द्वारा अमर बना दिया गया है। मध्यकाल में वीर स्तम्भों का निर्माण हुआ जिनमें योद्धा के विषय में उसकी युद्ध सम्बन्धी सामग्री के विषय में तथा उसके पीछे सती होने वाली स्त्रियों का विवरण मिलता है। वीर या योद्धा स्तम्भ 13 से 17वीं शताब्दी में अधिक मिलते हैं। कालान्तर में छतरियाँ बनाने की प्रथा शुरू हुई। ये छतरियाँ चतुष्कोण षटकोण अष्टकोण अथवा षोडशकोण की होती थी। छतरियों में आहड़ मण्डोर गेटोर देवकुण्ड की छतरियाँ उल्लेखनीय हैं। आहड़ उदयपुर से तीन मील दूर है जहाँ मेवाड़ के महाराणाओं की छतरियाँ हैं। मण्डोर जोधपुर से 6 किमी दूर है जहाँ जोधपुर के राठौड़ नरेशों की छतरियाँ है। गेटोर नाहरगढ़ के समीप है जहाँ कछवाहा राजाओं की छतरियाँ है। देवकुण्ड बीकानेर से 8 किमी दूर है यहाँ बीकानेर के राजाओं की छतरियाँ हैं। अलवर में राजा बख्तावर की छतरी तथा बण्डाली गाँव के निकट महाराणा प्रताप की छतरी है।

मारवाड़ के स्मारक भवनों के विषय में डा मांगीलाल व्यास मयंक ने लिखा है "मारवाड़ में स्मारक भवनों का निर्माण करने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन काल से रही है। प्राय प्रत्येक ग्राम में हम इस प्रकार के स्मृति भवन उपलब्ध हो जाते हैं। स्थानीय भाषा में इन्हें देवली व छतरी कहा जाता है। छतरियों में सम्बन्धित व्यक्ति की शिलांकित प्रतिमा भी प्राय रहा करती थी। इस प्रकार की प्रतिमा को पुतला कहा जाता था। पुतली के नीचे अभिलेख भी रहा करते थे। स्थानीय शासकों से सम्बन्धित छतरियाँ भी प्राप्त होती हैं।[2]

मकबरे और दरगाहों में मुस्लिम स्थापत्य कला का प्रयोग किया गया है। इनमें अजमेर स्थित सूफी सन्त शेख मुईनुद्दीन चिश्ती की दरगाह विशेष उल्लेखनीय है।

(6) भवन हवेलियाँ (Buildings)

राजमहलों के अतिरिक्त राजस्थान में अनेक धनाढ्य सेठों और राज्य के उच्चाधिकारियों व सामन्तों के निजी भवन या हवेलियाँ भी स्थापत्य की दृष्टि से अनुपम हैं। डा जयसिंह नीरज ने इन हवेलियों के स्थापत्य की विशेषताओं व उदाहरणों को इस प्रकार स्पष्ट किया है— 'हवेलियों के निर्माण की स्थापत्य कला भारतीय वास्तुकला के अनुसार रही है। हवेली की लम्बाई चौड़ाई और कमरों के

1 *Tod* Annals, Vol II p 761
2 डॉ मांगीलाल व्यास मयंक जोधपुर राज्य का इतिहास

निर्माण की एक परम्परा रही है जिसे राजस्थान के गाँवों में वास्तुकार आज भी अपनाते हैं। प्रमुख द्वार के अगल बगल कलात्मक गवाक्ष द्वार के बाद लम्बी पोल फिर बड़ा चौक और चौक के अगल बगल कमरे सामने चौबारा और चौबारे के अगल बगल और पृष्ठ में कमरे। यदि हवेली बड़ी हुई तो वह दो चौक, तीन चौक की तथा कई मंजिल की हो सकती है। राजस्थान के नगरों में सामंत और सेठ लोगों ने भी हवेलियाँ बनवाई। जयपुर की हवेली परम्परा इतनी प्रसिद्ध हुई कि बाद में समृद्धि के साथ ही शेखावाटी के श्रेष्ठी ने अपने अपने गाँव में विशाल हवेलियाँ बनवाने की परम्परा ही डाल दी। रामगढ़ नवलगढ़ फतहपुर मुकुन्दगढ़ मण्डावा पिलानी सरदार शहर रतनगढ़ आदि कस्बों में विशाल हवेलियाँ हवेली शैली स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

जैसलमेर की सालमसिंह की हवेली नथमल की हवेली तथा पटवा की हवेली तो पत्थर की जाली एवं कटाई के कारण आज संसार प्रसिद्ध हो गई है। इसी प्रकार वंशी पत्थर की बनी करौली भरतपुर कोटा की हवेलियाँ भी अपनी कलात्मक संगतराशी के कारण बेजोड़ गिनी जाती हैं। बाद में वैष्णव मंदिर भी हवेली शैली के आधार पर ही बनाए गए इसलिए विशाल हवेलियाँ मन्दिरों के रूप में आज जगह जगह देखी जा सकती हैं। हवेलियों के कारण आज हवेली शैली का स्थापत्य हवेली संगीत हवेली चित्रकला सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गए हैं।[1]

(7) जलाशय एवं उद्यान (Lakes and Gardens)

राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास में यहाँ के शासकों द्वारा निर्मित अनेक सुन्दर जलाशयों व उद्यानों से भी तत्सम्बन्धी स्थापत्य कला का परिचय मिलता है।

राजपूत नरेशों ने जलाशय निर्माण में अत्यधिक रुचि प्रदर्शित की क्योंकि जलाशय निर्माण को पुण्य का कार्य समझा जाता था। राजाओं के अतिरिक्त रानियों सामन्तों व्यापारियों साहूकारों एवं अन्य वणिक वर्गों ने भी जलाशय निर्माण की ओर ध्यान दिया। राजस्थान में छोटे और बड़े दोनों प्रकार के जलाशयों का निर्माण प्रचुर मात्रा में हुआ। मुख्य रूप से छोटे जलाशय पीने के पानी एवं बड़े जलाशय पीने के पानी व सिंचाई का ध्यान में रखकर बनवाए गए। छोटे जलाशयों में जैसलमेर के कौशिक राम का कुण्ड, जैतसागर ब्रह्मसागर बूंदी के फूलसागर जैतसागर तथा सूरसागर जोधपुर के रानीसर अभयसागर बालसमन्द तथा गुलाब सागर बीकानेर के सीशोलाव तथा सोलाब सागर मुख्य हैं। डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार इन छोटे जलाशयों के स्थापत्य में विशेष रूप से देखा गया है कि इनके ऊपरी भाग में छतरियाँ बनी रहती हैं और सीढ़ियाँ चारों ओर से या एक ओर से बनी रहती हैं जो सभी भागों से या एक भाग से नीचे तक पहुँच जाती हैं। इनका उपयोग नहाने पानी भरने तथा कहीं कहीं सिंचाई के काम में लिया गया है। ऐसे जलाशयों

1 डॉ जयसिंह नीरज व डा भगवती लाल शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा पृ 44

को मुगल ढंग से भी बनाया जाता था जिनमें बारादरियाँ इनके साथ बनवा दी जाती थी जो ग्रीष्मकाल में मुख्य शयन के काम में ली जाती थी।[1]

विशाल आकार के जलाशयों में (जो अध्ययन काल में निर्मित हुए) 'राजसमंद' झील विशेष उल्लेखनीय है। डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा के अनुसार "महाराणा राजसिंह ने बड़ी गाँव के पास जनासागर तथा कांकरोली के पास 'राजसमंद' ताल बनाए। राजसमंद बाँध की आकृति धनुषाकार है और राजनगर गाँव की ओर बालताल का छोर, जो दो पहाड़ियों के बीच स्थित है 200 गज लंबा और 70 गज चौड़ा है। इसमें राजनगर के संगमरमर से निर्मित सुंदर सीढ़ियाँ बनी हुई हैं और बाँध पर तीन सुन्दर तक्षण कला से युक्त मंडप बने हैं जिनके स्तम्भों और छतों में देवी देवताओं, नृत्यरत अप्सराओं और कलरव करते पशु पक्षियों की कलाकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। यह स्थल नौ चौकी के नाम से जाना जाता है। इन मंडपों के छज्जे छवन पान पुष्प आदि हिन्दू शैली लिए हुए हैं तो बेल बूटे व जालियों की खुदाई मुगल प्रभाव में ओत प्रोत है। पास ही तुलादान के पाँच तोरण द्वार व निकट पहाड़ी पर महल बना हुआ है।'[2] इसी झील के किनारे रणछोड़ भट्ट कवि द्वारा रचित राज प्रशस्ति महाकाव्य 25 शिलाओं पर उत्कीर्ण ताकों पर रखा हुआ है।

अध्ययन काल में निर्मित अन्य जलाशयों में डूंगरपुर की गव सागर, बूंदी का फूलसागर, जैसलमेर में ब्रह्मसर, जोधपुर में रानीसर, अभयसागर व गुलाबसर, बीकानेर का सूरसागर, अनूपसागर व नवलखताल स्थापत्य की दृष्टि में महत्वपूर्ण हैं।

उद्यान—नगर की सुन्दरता में अभिवृद्धि के उद्देश्य से राणा मोकल, राणा कुम्भा, मानसिंह, राजा जसवंतसिंह, मिर्जा राजा जयसिंह आदि ने बड़े बड़े उद्यान लगाए। इनमें नालियाँ, फुव्वारे, बारहदरियाँ स्थापित की जाती थीं। इन उद्यानों में मुगल शैली का बहुत अधिक प्रभाव है। इनके चारों ओर दीवार बनाई जाती थी। जयपुर का 'रामनिवास बाग' उद्यान स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

चित्रकला
(Painting)

डॉ. जयसिंह नीरज ने राजस्थानी चित्रकला के विषय में कहा है कि "राजस्थानी चित्रकला का उद्भव और उत्कर्ष राजस्थान के ही प्रान्त में हुआ तथा अन्य भारतीय शैलियों से प्रभावित होती हुई स्वतन्त्र रूप से राजस्थान के वीर प्रदेश में पोषित हुई। राजस्थानी चित्रकला के विकास और संवर्धन में राजस्थान का प्राचीन इतिहास और भौगोलिक संरचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतों की वीर भूमि के कण कण में उनके शौर्य की गाथाएं सभ्यता और संस्कृति के पद चिह्न काव्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि के रूप में यत्र तत्र बिखर पड़े हैं। वास्तविकता

1 पूर्वोद्धृत

2 डॉ. गुप्ता व डॉ. ओझा : राजस्थान का इतिहास—एक सर्वेक्षण पृ. 135

तो यह है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण या लोक जीवन के कारण काव्य एवं कला की उद्भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है।[1]

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल में हम राजस्थानी चित्रकला के परम्परागत रूप के साथ मुगलों के प्रभाव के फलस्वरूप विकसित एक नवीन शैली से अवगत होते हैं। मुगल सम्राट् अकबर ने अपने दरबार में श्रेष्ठ चित्रकारों को प्रश्रय दिया। राजपूताने के चित्रकार भी इसके कारण ईरानी चित्रकारों के सम्पर्क में आए। राजपूत मुगल शैली के समन्वय का यह प्रभाव हुआ कि गुजरात एवं लोदी शैली का प्रभाव घटता गया और मुगल प्रभाव बढ़ता गया। परवर्ती काल में राजस्थानी शैली मुगल प्रभाव से बहुत परिमार्जित होती गई और मुगल कला भी इस शैली के सम्बन्ध से परिमार्जित होकर मुगल या भारतीय बनी। इस प्रकार राजस्थान के अनेक नगरों में कुछ अपनी विशिष्ट मौलिकताओं के साथ अनेक राजस्थानी शैलियाँ सोलहवीं शताब्दी तक विकसित होती गई। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल साम्राज्य का पतन होने लगा। परिणामस्वरूप कलाकारों और चित्रकारों को दिल्ली दरबार का संरक्षण मिलना बन्द हो गया जिसके कारण वे रोजगार की तलाश में राजपूत राजाओं के दरबार में आ पहुंचे। कला प्रेमी राजपूत नरेशों ने उन्हें आश्रय दिया। यह समय भारतीय राजनीति एवं समाज में संक्रमण का काल था। चारों ओर विलासिता एवं ऐश्वर्य का साम्राज्य था। इस स्थिति का प्रभाव कला पर पड़ना भी स्वाभाविक था। चित्रकारों ने परिवर्तित परिस्थितियों में जो चित्र बनाए उनमें विलासिता, कामुकता एवं ऐश्वर्य का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

डा. कालूराम शर्मा के शब्दों में "अब शासकों के ऐश्वर्य तथा विलासी जीवन के दृश्यों पर जोर दिया जाने लगा जैसे कि शासक को अपने दरबारियों के साथ चित्रित करना, शासक के शिकार के दृश्य, दरबार में संगीत और नृत्य के आयोजन के दृश्य और श्रृंगारी विषयों की प्रधानता। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के चित्रों की प्रेरणा मुगल चित्रकला से ली गई थी। 18वीं सदी के अन्त तक राजस्थानी चित्रकला में मुगल शैली पूरी तरह से विलीन हो चुकी थी। अतः इस काल के बने चित्रों में मुगल शैली को ढूंढना प्रायः असम्भव हो गया जिससे इस काल के चित्रों में राजस्थानी शैली का विशुद्ध रूप दिखाई देने लगा। तत्कालीन युग के राग रंग और ऐश्वर्य विलास प्रधान प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब तक चित्रों में स्पष्ट दिखाई देता है। कृष्ण लीला तथा राधाकृष्ण सम्बन्धी धार्मिक चित्रों में भी मानवीय कामुकता का ही चित्रण होता था। इन चित्रों में पूरी पूरी राजकीय तड़क भड़क एवं अत्यधिक अलंकरण पाया जाता है। चित्रकला की यह प्रवृत्ति केवल राजस्थानी शासकों तक ही सीमित नहीं रही बल्कि इसका विस्तार इस सीमा तक हो गया था

1. डा. जयसिंह नीरज व डा. भगवतीलाल शर्मा, पूर्वोद्धृत, पृ. 86

कि प्रत्येक महत्वपूर्ण साम त अपनी जागीर की हवेली म चित्रकारा को आश्रय देने लगा। ऐसे सामन्तो म घाणेराव देवगढ उणियारा, शाहपुरा, बदनोर सलूम्बर कोठारिया आदि प्रमुख थे। इनम से कुछ जागीरदारो की चित्रकला पर अभी शोध काय चल रहा है।'[1]

राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ व उनकी विशेषताएँ
(Schools of Rajasthani Painting and their Characteristic Features)

राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शलिया के उद्भव और विकास म स्थानीय प्रभाव एव चित्रकार विशेष क समन्वित सयोग का विशेष योगदान रहा है। डा जयसिह नीरज ने इन शलियो के विकसित होने क सम्ब ध म अपना मत प्रकट करत हुए कहा है कि राजस्थाना चित्रकला का विकास एव निमाण दूसरी अधिकाँश शलियो की भाँति न तो एक स्थान मे हुआ और न ही कुछ कलाकारो द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्राचीन नगर राजधानियाँ तथा धार्मिक एव सास्कृतिक प्रतिष्ठान हैं वहाँ चित्रकला पनपी और प्रतिष्ठित हुई। धमपीठा लाक कलात्मक मिथको रियासता के कला प्रेमी राजाग्रा सामतो ठिकानो के जागीरदारो नगर क श्रेष्ठियों, कलाकारो आदि के सयाजन से जो कला उभर कर आई वह राजस्थानी चित्रकला के नाम से जानी गई। धार्मिक प्रतिष्ठानो के अतिरिक्त कवियो चितारो, मुसव्विरा मूर्तिकारा शिल्पाचार्यो आदि का जमघट दरबारो मे होने के कारण राजस्थानी चित्रकला की अजस्र धारा अनक रियासती शलिया उपशलियो का परिप्लावित करती हुई 17वी 18वी शती म अपने चरमोत्कर्ष पर पहुची। अधिकाँश रियासतों के चित्रकारो ने जिन जिन तौर तरीको से चित्र बनाए स्थानानुसार अपनी परिवेशगत मौलिकता राजनतिक सम्पक सामाजिक सम्ब धो क कारण वहा की चित्र शली कहलाइ। इसके वर्गीकरण के बारे मे विद्वाना के विभिन्न मत हैं कि तु अध्ययन की सुविधा के लिए भौगोलिक सांस्कृतिक आधार पर राजस्थानी चित्रकला का हम चार प्रमुख स्कूलो मे बाँट सकते हैं—

1 मेवाड स्कूल (चाँवड उदयपुर, नाथद्वारा देवगढ आदि शलियो और उपशलिया स सम्ब धित)
2 मारवाड स्कूल (जाधपुर बीकानर जसलमेर, किशनगढ पाली नागौर, घाणेराव आदि शलियो और उपशलियों से सम्बन्धित)
3 ढूढाड स्कूल (आम्बेर जयपुर शेखावाटी अलवर, उणियारा, करौली, भिलाय शलिया और उपशलिया स सम्ब धित)
4 हाडौती स्कूल (बून्दी कोटा, झालावाड शली और उपशलियो स सम्ब धित)

इस वृहद् प्रदेश की सीमाए उत्तर प्रदेश मध्यप्रदेश, गुजरात पाकिस्तान पजाब और हरियाणा से लगती हैं अत मध्यकाल म राजस्थान की छोटी बडी

1 डा कालूराम शर्मा राजस्थान के इतिहास का सर्वेक्षण पृ 298

रियासतो की तथा पडोसी प्रदेशो की सस्कृति का पारस्परिक प्रभाव और आदान प्रदान स्वाभाविक था। राजस्थानी चित्रकला भी इस प्रभाव से अछूती नही रही।[1]

राजस्थानी चित्रकला की उपरोक्त शलिया की विशेषताएँ व उनका विकास सक्षेप म इस प्रकार है—

(1) मेवाड शली (Mewar School)

डा गोपीनाथ शमा क अनुसार राजस्थानी चित्रकला का प्रारम्भिक और मौलिक रूप जो सामजस्य के फलस्वरूप बनने पाया था मवाड शली म पाते हैं वल्लभीपुर से गुहिलवशीय राजाओ के साथ य कलाकार वहाँ स सर्वप्रथम मवाड म आए और उन्होने अजन्ता परम्परा को प्रधानता दना शुरू किया। स्थानीय विशेषताओ स मिलकर यह परम्परा अपना स्वतन्त्र रूप बना सकी जिस हम मवाड शली कहते हैं। 1260 ई का श्रावक प्रतिक्रमणचूर्णी नामक चित्रित ग्रन्थ इस शली का प्रथम उदाहरण है। मवाड शली का समृद्ध रूप हम चित्तौड क प्राचीन महलो के रगो तथा फूल की पखुडियो की रेखाओ म दिखाई देता है। जब मुगलो के साथ मेवाड न राणा अमरसिंह के समय 1615 ई म सधि की तब स उत्तरोत्तर मवाड शली मे मुगली विशेषताओ का समावेश होने लगा जो 1625–52 ई तक परिपक्व हो गया।[2] मेवाड शली के विषयो म भागवत पुराण रामायण दरबारी जीवन तथा राग रागनिया का चित्रण नायिका भेद एव सूरसागर मुख्य हैं।

अविनाश बहादुर वर्मा के अनुसार मवाड शली की निम्नांकित विशेषताए हैं-[3]

(i) **चित्रो का रग**—चटक लाल केसरिया पीला व नीला रग का प्रयोग।

(ii) **सयोजन**—चित्रो की पृष्ठभूमि म घटनाओ का उनके महत्त्वानुसार सयोजन।

(iii) **आकृतिया**—चेहरे गोल अटाकर लम्बी नाकें चिबुक व गदन के बीच का भाग अधिक भारी व पुष्ट। स्त्रियो का आकार छोटा किन्तु अग भगिमाए सुदर।

(iv) **प्रकृति**—का अलकारिक रूप चित्रित है किन्तु पवतो व चट्टानो पर मुगल प्रभाव।

(v) **परिप्रेक्ष्य**—चित्र की मुख्य घटना को मध्य म ध्यानाकषण हेतु चित्रित किया है।

(vi) **पशु पक्षी**—अलकारिक चित्रण किन्तु मुगल प्रभाव स यथाथ चित्रण भी है।

1 डॉ जयसिंह नीरज व डॉ भगवतीलाल शर्मा पूर्वोदृत p 86–87
2 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास पृ 165–66
3 अविनाश बहादुर वर्मा भारतीय चित्रकला का इतिहास p 187

(vii) गोलाई—मुगल प्रभाव स्वरूप छाया के प्रयोग द्वारा गोलाई का चित्रण।

(viii) वेश भूषा—पुरुषों का घेरदार पजामा व कमर में पटका तथा पगड़ियाँ सुन्दर। स्त्रियों के वस्त्र फूलदार कपड़े के व चोलियाँ तथा लहँगों सहित चित्रण।

(ix) भवन—अकबरकालीन भवनों का चित्रण योजना को ठोस बनाने हेतु।

(x) हाशिये—चित्रों के हाशिये प्रायः लाल या पीली सादी पट्टियों के हैं।

(2) मारवाड़ शैली (Marwar School)

डा जयसिंह नीरज के शब्दों में 'जोधपुर शैली से ही मारवाड़ स्कूल का प्रारम्भ माना जा सकता है। चौकिला महल के भित्तिचित्र भी तत्कालीन चित्रण के प्रतीक हैं। राजा सूरसिंह (1595–1628) के समय के अनेक लघुचित्र पिक्चर आर्ट गैलरी बड़ौदा तथा कुमार संग्रामसिंह के निजी संग्रह में हैं। ढोलामारू तथा 1610 में चित्रित भागवत जोधपुर शैली की प्रमुख दाय है। सन् 1623 की वीर विट्ठलदास चाँपावत के लिए चित्रित की गई पाली की राममाला चित्रावली का ऐतिहासिक महत्त्व है। 17वीं शती के मध्य में अंकित जोधपुर शैली के सूरसागर के पदों पर आधारित चित्र एवं रसिक प्रिया में रंगों की चटकता और वस्त्राभूषण का अभिजात्य विशेष उल्लेखनीय है। जोधपुर शैली का दूसरा मोड़ महाराजा जसवंतसिंह के समय में आया। कृष्ण चरित्र की विविधता और मुगल शैली का प्रभाव इस समय के चित्रों में दृष्टव्य है।

मारवाड़ स्कूल की दूसरी प्रमुख शैली बीकानेर शैली है जिसका 16वीं शती के अन्त में प्रादुर्भाव माना जाता है। मथेरणा व उस्ता परिवार ने आज तक बीकानेर की चित्रकला को परिप्लावित किया। मारवाड़ स्कूल में किशनगढ़ शैली संसार प्रसिद्ध होने के कारण अलग स्कूल के रूप में भी चर्चित है। राजा रूपसिंह, राजा मानसिंह, राजा राजसिंह के समय में (1643–1748) काव्य और चित्रकला का यहाँ क्रमिक विकास हुआ पर राजा सावंतसिंह (भक्तवर नागरीदास जन्म 1699) के समय में किशनगढ़ की चित्रकला में एक नया मोड़ आया। नागरीदासजी के काव्य प्रेम, गायिका बणीठणी के संगीत प्रेम और कलाकार मोरध्वज निहालचन्द के चित्रांकन ने इस समय किशनगढ़ की चित्रकला को सर्वोच्च स्थान पर पहुँचा दिया।'[1]

अविनाश बहादुर वर्मा के शब्दों में 'किशनगढ़ के चित्रों में स्त्री आकृतियों का विकास बणीठणी के रूप में हुआ और दूसरा आधार ब्रज भाषा साहित्य में प्रचलित उपमाओं के आधार पर राधा के सौन्दर्य का अंकन हुआ। यह सारा परिवर्तन

1 डॉ जयसिंह नीरज व डॉ भगवतीलाल शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा p 89-93

नागरीदास और उसके चित्रकार निहालचन्द की कुशल बुद्धि का कार्य था। इस प्रकार किशनगढ़ के चित्रकारों ने सावंतसिंह के राज्यकाल में परम्परागत लोक कला के मीन नेत्र गोलभारी चेहरे न बनाकर कमल और खजन आकार के नेत्र चाप के समान पतली भृकुटी पतले सुकोमल अधर और लम्बी पतली नाक को चेहरे में बनाकर नारी के वीर भाव के स्थान पर माधुर्य तथा कोमलता चचलता व नारीत्व भाव की प्रधानता को दर्शाया। स्त्रियाँ लता के समान लचकदार छरहरे शरीर वाली और लम्बी बनाई गई हैं। इस प्रकार किशनगढ की स्त्री आकृतियाँ राजस्थान की अन्य कला शैलियों से सर्वथा भिन्न है। यह निश्चित है कि इस शैली को सुन्दरी बनीठनी के जीवित रूप से अत्यधिक प्रेरणा नवीन रूप विधान और कोमलाङ्गी स्त्री आकृति की साकार कल्पना मिली।[1] उक्त कथन चित्रकला में नागरीदास के योगदान को भली भाँति प्रकट करता है।

(3) ढूढाड स्कूल (Dundhar School)

प्राचीन समय में जयपुर और इसका निकटवर्ती क्षेत्र ढूंढाड कहलाता था। चित्रकला के विकास की दृष्टि से इस क्षेत्र में आमेर जयपुर अलवर शेखावाटी उणियारा करौली आदि शैलियों को भी सम्मिलित किया जाता है। डा जयसिंह नीरज के शब्दों में 'आमेर शैली के प्राचीन उदाहरण सन् 1600 से 1614 के आस पास आमेर की छतरियों के भित्ति चित्र इस शैली का प्रारूप दर्शनीय है जिस पर मुगल प्रभाव हावी है। आमेर शैली का दूसरा चरण मिर्जा राजा जयसिंह (1625–1667) के समय में रीतिकालीन परम्परा से अधिक प्रभावित है। बिहारी जैसे कवि उस समय दरबार की शोभा थे, जिन्होंने शब्द चित्र बनाकर चित्रकला को प्रभावित किया। महलों और हवेलियों के निर्माण के साथ भित्ति चित्रण जयपुर की विशेषता बन गई। सवाई माधोसिंह प्रथम के समय (1750–1767) गलता के मंदिरों शीशोदिया रानी के महल चन्द्र महल तथा पुण्डरीक की हवेली में कलात्मक भित्ति चित्रण हुआ। जयपुर शैली का प्रभाव ईसरदा मिवाड भिलाय उणियारा चौमू सामोद मालपुरा जैसे ठिकानों पर भी रहा जिससे वहाँ ठिकाना पेंटिंग विकसित होती रही। भित्ति चित्रण पोथी चित्रण आदमकद पोर्ट्रेट लघु चित्रण में जयपुर के कलाकारों ने मुगल प्रभाव को ग्रहण करते हुए राजपूती संस्कृति की नफासत और रंगों की लोक कलात्मकता का संतुलित उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2]

(4) हाडौती या बूदी स्कूल (Haroti or Bundi School)

डा गोपीनाथ शर्मा के अनुसार राजस्थान शैली के अन्तर्गत बूंदी शैली का भी बडा महत्व है। प्रारम्भिक काल में राजनीतिक अधीनता के कारण बूंदी कला पर मेवाडी शैली का बहुत प्रभाव रहा। इस स्थिति को व्यक्त करने वाले 1625 ई

1 डॉ जयसिंह नीरज व डॉ भगवतीलाल शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा p 89–93

2 अविनाश बहादुर वर्मा भारतीय चित्रकला का इतिहास p 207–208

ष लगभग के दो चित्र जिनमे एक रागमाला और दूसरा भरवी रागिनी का है बडा उपादेय है। इन चित्रों मे पटालाक्ष, नुकीली नाक मोटे शाल छोटा कद और लाल पीले रंग की प्रचुरता स्थानीय विशेषताओं की द्योतक है।"[1] परम्परा के अनुसार कहा जाता है कि क्षत्रशाल (1631–1656 ई) ने अपने दरबारी चित्रकार नियुक्त किए। उसके गद्दी से उतरते ही शाहजहा ने यह जागीर उसके भाई माधवसिंह को सौंप दी और उसमे कोटा भी सम्मिलित कर लिया और इस प्रकार अट्ठारहवीं शताब्दी मे कोटा भी बूंदी शैली का केन्द्र बन गया। अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे बूंदी शैली का पूर्ण विकास हुआ और इस समय अधिक चित्रों का निर्माण हुआ। इस शैली मे अलंकरण की प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे चित्रों का स्तर गिर जाता है और कारीगरी की कुशलता और दक्षता कम हो जाती है। अट्ठारहवीं शताब्दी के कुछ भद्दे चित्र भी प्राप्त होते हैं जो देखने मे अपूर्ण हैं। शायद यह चित्र उन संरक्षकों या चित्र प्रेमियों के लिए बनाए गए है जो अधिक उत्कृष्ट चित्रों का मूल्य नहीं दे सकते थे।

हाडौती या बूंदी शैली की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए डा नीरज का कथन है कि बूंदी शैली की आकृतियाँ लम्बी शरीर पतले स्त्रियों के अधर अरुण, मुख गोलाकृत और चिबुक पीछे की ओर झुकी छोटी होती है। प्रकृति का सुरम्य सतरंगा चित्रण तथा स्थापत्य का राजपूती वैभव और श्वेत गुलाबी लाल हिंगलू हरा आदि रंगों का प्रयोग बूंदी कलम की विशेषता रही है। रागरागिनी नायिका भेद ऋतु वर्णन बारहमासा कृष्णलीला दरबार शिकार हाथियों की लड़ाई उत्सव अंकन आदि शैली के चित्राधार रहे है।[2]

राजस्थान के इतिहास के अध्ययन काल मे स्थापत्य एवं कला के उपरोक्त क्षेत्रों मे प्रगति हुई जिस पर मुगलों के सम्पर्क से भारतीय एवं ईरानी कला का सामंजस्य हुआ। यह समन्वयवादी प्रभाव राजस्थान की आलोच्य अवधि के अन्तर्गत कला के विभिन्न पक्षों पर पडा। मूर्ति कला के क्षेत्र मे परम्परागत शैली का अनुकरण होता रहा किन्तु धार्मिक सहिष्णुता की भावना अभिव्यक्त हुई। इस काल मे वैष्णव शैव देवी तथा जैन मन्दिरों मे मूर्तियों का प्रचुर मात्रा मे निर्माण हुआ। संगीत कला पर भी मुगल प्रभाव स्पष्ट दिखता है। राजस्थान मे इसके फलस्वरूप 'हवेली संगीत' की नई शैली का विकास हुआ। नृत्य कला के क्षेत्र मे भी भारतीय पारम्परिक शैलियों के अतिरिक्त मुगल प्रभाव से कत्थक नृत्य का विकास हुआ। कत्थक का जयपुर घराना मुगल राजपूत नृत्य शैलियों के सामंजस्य का ही परिणाम है। इस प्रकार आलोच्य काल मे राजस्थान मे कला एवं स्थापत्य का प्रचुर विकास हुआ।

---

1 डॉ गोपीनाथ शर्मा राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास :
2 पूर्वोद्धृत p 91